ाकी राह बनाकर । प्रेमसे दिशा भरकर।
तलमें बिछाकर । अपना जीव ॥ ४९ ॥

स भांति बचाकर चलता । वर्णनमें शब्द नहीं मिलता।
ा जो है अनुपमेय होता । अर्जुन वह ॥ २५० ॥

ममता मुहसे उठाती । बिलाडी पिल्लेको ले जाती।
ल्लेको दांत नहीं लगाती । वैसे पार्थ ॥ ५१ ॥

थवा स्नेहार्द्र जो माता । राह देखती स-ममता।
शुकी तब जो मृदुता । होती दृष्टिमें ॥ ५२ ॥

कमल-दल हिलाते । उससे जो पवन लेते।
ा जैसे हैं सुख पाते । नयन पसार ॥ ५३ ॥

ा मार्दवसे जो पग । पृथ्वीपे रखता अलग ।
गनेसे यदि वे स्वर्ग– । सुखसा मिलता ॥ ५४ ॥

से चलते हुए भी कोमल । कृमि-कीटक देखके दुर्बल।
ोटता वहांसे वह निर्मल । सावकाश ॥ ५५ ॥

रे पगका शब्द भी यदि होगा । विश्व-व्यापकका निद्रा-भंग होगा।
सका सुख-रूप कुम्हलायेगा । ऐसे वह सोचता ॥ ५६ ॥

स कारणसे सदैव । चलता है सावध-भाव।
। कुचलता कोई जीव । कभी कहीं ॥ ५७ ॥

ख कर तृणमें भी जीव । न लांघना है उसका भाव।
ब देख प्रत्यक्ष जीव । कुचले कैसे ॥ ५८ ॥

वींटा मेरू न लांघ सकता । झींगुर सिंधु नहीं तैरता।
ैसा ही वह नहीं लांघता । कभी किसीको ॥ ५९ ॥

ी–अहिंसकका बोलना—

ऐसी है उसकी रीत । कृपा फलसे है फलित।
उसकी वाणीमें जागृत । दया दर्शनीय ॥ २६० ॥

स्व-शन उसका सु-कुमार । मानो मुख है प्रेमका घर ।
माधुर्यमें आये हैं अंकुर । ऐसे वे दांत ॥ ६१ ॥

आगे आगे चूता स्नेह-निर्झर । पीछे पीछे चलते हैं अक्षर ।
तब होता शब्दोंका अवतार । पहले आती कृपा ॥ ६२ ॥

उसका बोलना ही नहीं । बोलना चाहता जो कहीं ।
तो बोलना किसीको नहीं । चुभेगा कभी ॥ ६३ ॥

बोलनेमें होता क्या अधिक । चुभता क्या कोई बोल एक ।
होता क्या कोई सुन साशंका । रहता सावधान ॥ ६४ ॥

प्रतिपादित बात टूटेगी । किसीमें भीति उदित होगी ।
अन्य-बात उपेक्षित होगी । यही मनमें ॥ ६५ ॥

किसीका मन नहीं दुखाना । किसीकी भृकुटी न ऊठना ।
मनमें ही सोचता रहना । स्वस्थतासे ॥ ६६ ॥

कोई उनसे विनय करता । तब जो वह बोलने लगता ।
सुननेवाला है अनुभवता । यह है माय-बाप ॥ ६७ ॥

मानो नाद-ब्रह्मने लिया आकार । अथवा है गंगा-जलके तुषार ।
पतिव्रताका निर्मल मनोहर । वार्धक्य आया ॥ ६८ ॥

वैसा सत्य और कोमल । हित-मित किंतु सरल ।
मानो बोल होते कल्लोल । अमृतके हैं ॥ ६९ ॥

उपरोध विवाद बल । प्राणि-तापदायक बोल ।
उपहास शब्दका शूल । तथा मर्म-स्पर्श ॥ २७० ॥

हठ आवेश कपट छल । आशा शंका प्रथारणा-बोल ।
ये अवगुण तज सरल । बोलता वह ॥ ७१ ॥

ज्ञानी-अहिंसकका देखना—

वैसे ही उसकी पार्थ । होती है दृष्टि सतत ।
भृकुटिसे होती मुक्त । सर्वत्र ही ॥ ७२ ॥

प्राणिमात्र है ब्रह्मका स्थान । उसे होगी दृष्टिकी चुभन ।
इसीलिये है वह अर्जुन । न देखता कभी ॥ ७३ ॥

कहीं कभी किसी समय । हृदयसे हो कृपामय ।
खुले नयन सुखमय । तभी देखा ॥ ७४ ॥

चंद्र-बिंबसे स्रवती धार । न होती यदि वह गोचर ।
किंतु उससे होते चकोर । परिपुष्ट ॥ ७५ ॥

प्राणिमात्रका ऐसा होता । जब किसीको है देखता ।
ऐसी अवलोकन-प्रथा । न जाने कूर्मी-भी ॥ ७६ ॥

उसकी दृष्टि ऐसी है । सब भूतोंके प्रति है ।
उसके हाथ कैसे हैं । कहता अब ॥ ७७ ॥

नी-अहिंसककी कार्य-प्रणाली—

होकर सदैव कृतार्थ । रहे सिद्धके मनोरथ ।
वैसे उसके होते हाथ । निर्व्यापार ॥ ७८ ॥

जैसे अंधेने छोडा देखना । निरिंधन अग्निका बुझना ।
अथवा गूंगेका मौन लेना । वैसे उसका ॥ ७९ ॥

इस भांति कुछ कहीं । उसको करना नहीं ।
आते हैं सब ही वहीं । बैठने हेतु ॥ २८० ॥

लगेगा झटका पवनको । या नख लगेंगे आकाशको ।
इस भावसे वह हाथको । हिलाता ही नहीं ॥ ८१ ॥

शरीरसे प्राणियोंको हटाना । या आंखोंसे धुर धुरे उडाना ।
या पशु पक्षियोंको देखना । इसी भावसे ॥ ८२ ॥

ऐसी है जिसकी बात । न लेता दंड या बेंत ।
कैसा लेगा वह पार्थ । हाथमें शस्त्र ॥ ८३ ॥

लीलासे कमलसे खेलना । सुमन-मालाको भी झेलना ।
उसको भी गोफिया मानना । स्वभाव उसका ॥ ८४ ॥

अपने शरीरके रोम हिलेंगे । इसलिये हाथ न सहलायेंगे ।
नखोंके लपट लिपट जायेंगे । उंगुलियों पर ॥ ८५ ॥

करनेको है जहां अभाव । बन गया है ऐसा स्वभाव ।
हाथोंका है तब निज-भाव । जुड़ जाते वे ॥ ८६ ॥

या उठते हैं अभय देने । आर्त दीनकी सेवा करने ।
गिरनेवालोंको संभालने । कभी कभी ॥ ८७ ॥

यह भी वह बलसे करता । आर्तका भय दुख हरता ।
उस हस्त-स्पर्शकी शीतलता । न जाने चंद्रमा भी ॥ ८८ ॥

उसका वह स्पर्श पाकर । लगे मलयानिलय कठोर ।
सहलाता हो प्रेम विभोर । पशुको भी ॥ ८९ ॥

हाथ जो रीता सदा खुला । चंदनांग जैसे निर्मल ।
न फलनेपे भी निष्फल । कह सकते नहीं ॥ २९० ॥

रहने दो यह वाग्जाल । जाने उसके करतल ।
जैसे है सज्जनोका शील । स्वभाव वैसे ॥ ९१ ॥

ज्ञानीके अहिंसक मनका स्वरूप—

अब कहूंगा मनका लक्षण । यह कहना भी है विलक्षण ।
अब तक किया जो निरूपण । किसका विलास ॥ ९२ ॥

शाखा नहीं हैं क्या तरूवर । जल बिन होता क्या सागर ।
या तेज बिन क्या तेजाकार । संभव है क्या ॥ ९३ ॥

अवयव और शरीर । नहीं क्या एक ही आधार ।
अथवा रस और नीर । भिन्न है क्या ॥ ९४ ॥

इसीलिये यहां सर्व । कहे हैं जो बाह्य भाव ।
मन ही वे सावयव । ऐसे जानना ॥ ९५ ॥

जिस बीजका किया रोपन । फैला वही शाखा रूप बन ।
वैसे इंद्रियोंसे प्रसरण । होता मनका ही ॥ ९६ ॥

अजी! मनमें ही जो नहीं । अहिंसाका नाम भी कहीं ।
बाहर प्रगटे भी वही । कहो कैसे ॥ ९७ ॥

होती है जिसकी चाह पार्थ । वृत्ति वह मनमें उदित ।
होती वह फिर प्रकाशित । वाचादि इंद्रियोंसे ॥ ९८ ॥

मनमें जो है ही नहीं । वाचादिसे क्या कभी कहीं ।
बीज बिन अंकुर कहीं । उगता है क्या ॥ ९९ ॥

उगम ही जहां सूख जाता । प्रवाह कहो कैसे बहता ।
जीव जाने पर भी क्या होता । कहीं उद्योग ॥ ३०० ॥

मनका जब ममत्व टूटता । इंद्रियोंका व्यापार ही मिटता ।
सूत्रधार बिना नहीं चलता । गुडियाका खेल ॥ १ ॥

मन है वैसे पांडव । उसका मूल इंद्रिय भाव ।
व्यापार करता यही सर्व । इंद्रियों द्वारा ॥ २ ॥

किंतु जो समयके अनुसार । वासना रूप बनके अंदर ।
कार्य था वह रूपसे बाहर । आता इंद्रियोंसे ॥ ३ ॥

इसीलिये मनमें यथार्थ । होती है अहिंसा विकसित ।
पक्व सुगंध हो उल्लसित । फैलता वैसे ॥ ४ ॥

इन्द्रियां ही मनकी संपदा । बेचती हैं सर्वत्र सर्वदा ।
और है जो अहिंसाका धंदा । करती रहती हैं ॥ ५ ॥

जब आता समुद्रमें उभार । भरते हैं आखात चहूं ओर ।
स्व-संपत्तिसे चित्त बार बार । भरता इन्द्रियोंको ॥ ६ ॥

अजी! जैसे सदा पंडित । बालकका पकड हाथ ।
अक्षर करता है व्यक्त । अपने आप ॥ ७ ॥

वैसे अपना दयालूपन । हाथ पैरमें लाता है मन ।
करता फिर वहां उत्पन्न । अहिंसाके ॥ ८ ॥

इससे किया मैंने अर्जुन । इन्द्रियोंका अहिंसा-वर्णन ।
इससे है मनका दर्शन । होता स्पष्ट ॥ ९ ॥

इस भांति तन मन वचन । करता है दंड-त्याग अर्जुन ।
इसका ही होगा वहां दर्शन । सदा सर्वत्र ॥ ३१० ॥

ऐसा पुरुष है चर । ज्ञानका ही है मंदिर ।
यह है वह धनुर्धर । स्वयं ज्ञान-मूर्ति ॥ ११ ॥

करते जो अहिंसाका श्रवण । या ग्रंथोंमें होता है निरूपण ।
करना हो तो उसका दर्शन । इसीमें होगा ॥ १२ ॥

अहिंसा विवेचनमें वाग्विस्तारकी क्षमायाचना

कहना था देवका एक वचन । किया मैंने सुविस्तृत विवेचन ।
इसलिये करता क्षमा-याचन । आपसे मैं ॥ १३ ॥

हराभरा चारा देख जानवर । भूल जाता है लौट आना जो घर ।
पवन-गतिमें उड़ता अंबर । इससे दूर जाता पंछी ॥ १४ ॥

वैसे है प्रेमकी स्फूर्ति । खिलाती है रस-वृत्ति ।
बहते जाती है मति । स्वैर भावसे ॥ १५ ॥

वैसे भी नहीं अवधार । स-कारण किया विस्तार ।
वैसे शब्दके हैं अक्षर । केवल तीन ॥ १६ ॥

अजी ! शब्द हैं अहिंसा साधारण । उसपे पडा मतोंका आवरण ।
करनेसे उन मतोंका खंडन । स्पष्ट होता भाव ॥ १७ ॥

वैसे प्राप्त जो मत-मतांतर । उसका निरसन नहीं कर ।
अपनी भी बात कही दो-चार । न चलेगा वहां ॥ १८ ॥

अजी ! रत्न-पारखियोंके गांवमें । गांठसे गंडकी खोले बेचनेमें ।
अधुरा मान स्तवन करनेमें । न करें क्या स्तुति शारदाकी ॥ १९ ॥

सुगंध मंद है कर्पूरमें । कहते हैं जिस समाजमें ।
आटेको कपूर कहनेमें । धैर्य हो कसे ॥ ३२० ॥

इसीलिए सभामें ऐसे । मात्र बातूनी बननेसे ।
मिले आपका प्रेम कैसे । तभी बोला प्रभु ॥ २१ ॥

सामान्य और विशेष एक । मिलाया हुवा जो आप देख ।
उसको कानसे मुख तक । न ले जायेंगे ॥ २२ ॥

प्रसता संदेहका खल-मल । जब शुध्द-प्रमेय जो निर्मल ।
पैरोंकी स्फूर्ति आती उसी पल । पीछे भागनेकी ॥ २३ ॥

अजी ! जल-कुंबीसे । ढके हुए नीरसे ।
कभी न करे जैसे । क्रीडा हंस ॥ २४ ॥

चांदनी जो बादल पारसे । उसको नहीं देखता जैसे ।
आंख उठाकर कौतुकसे । चकोर पक्षी कभी ॥ २५ ॥

वैसे आप नहीं लेंगे पास । इस ग्रंथको इच्छासे खास ।
करेंगे सक्रोध उपहास । सा-शंक निरूपणपे ॥ २६ ॥

न कर संदेह निवारण । किया हो तो मैंने निरूपण ।
उससे कभी आपका मन । मिलेगा क्या मुझको ? ॥ २७ ॥

तथा मेरा जो यह संपूर्ण । कहनेका है सब कारण ।
आपका प्रसाद प्रति-क्षण । सदा सन्मुख हो ॥ २८ ॥

गीतार्थ आपको प्रिय मान । गीताको किया आश्रय-स्थान ।
तथा मान मैं प्राण-समान । बोलता हूं आपसे ॥ २९ ॥

आप अपना जो सर्वस्व देंगे । अपना स्वत्व यह छुडालेंगे ।
ग्रंथ नहीं यह बंधक मानेंगे । सर्व-भावसे ॥ ३३० ॥

अपने सर्वस्वका लोभ धरेंगे । या बंधकका अनादर करेंगे ।
गीता तथा मेरी भी आप मानेंगे । एक ही गाति ॥ ३१ ॥

चाहता हूं मैं केवल । कृपा आपकी निर्मल ।
इसीलिये मैं ये बोल । बोलता हूं ॥ ३२ ॥

बैठे हैं आप रसिक जन । आपके योग्य देना व्याख्यान ।
तभी मतांतरका कथन । किया सब ॥ ३३ ॥

इससे कथा-विस्तार भया । श्लोकार्थसे कुछ दूर गया ।
सो मैंने क्षमायाचन किया । आपत्य-भावसे ॥ ३४ ॥

अजी ! कौरमें जब ककड आता । उसको दूर करना ही पडता ।
उसे निकालनेमें समय जाता । दूषण है क्या यह ? ॥ ३५ ॥

बालक जब चोरसे बचकर । आता है अपने घर कर देर ।
माता नहीं बोलती डांट कर । प्रसन्न हो कहती आया ! ॥ ३६ ॥

किंतु यह बात ऐसी नहीं है । आपने सहा जो भला किया है ।
भगवानने जो आगे कहा है । वह सुनिये अब ॥ ३७ ॥

कहता उन्मेख सुलोचन । सावध हो तू अर्जुन ।
कहूंगा अब तुझे ज्ञान । परिपूर्ण जो ॥ ३८ ॥

४ ज्ञानका लक्षण, शांति—

बिन आक्रोश जहां । क्षमा होती है कहां ।
ज्ञान होता है वहां । जान निश्चित ॥ ३९ ॥

गहरे सरोवरमें जैसे । कमलिनी बढती है वैसे ।
या सुदैवीके घरमें जैसे । बढती संपत्ति ॥ ३४० ॥

उसी भांतिसे है पार्थ । बढती क्षमा यथार्थ ।
उसके लक्षण सार्थ । कहते अब ॥ ४१ ॥

जैसे प्रिय-भूषण । करते हैं धारण ।
वैसे है जो सहन । करता सर्व ॥ ४२ ॥

त्रिविध तापोंका संपूर्ण । हुवा उनपे आक्रमण ।
तो भी उसका चित्त जान । नहीं होता चंचल ॥ ४३ ॥

अपेक्षित पाके मन । होता है जैसे प्रसन्न ।
अनपेक्षितका जान । वही आदर ॥ ४४ ॥

मानापमानको जो सहता । सुख दुःखको है समा लेता ।
निंदा-स्तुतिको भी मानता । एक समान ॥ ४५ ॥

उष्मासे जो न तपता । शीतसे जो न कांपता ।
न किसीसे है डरता । किसी समय ॥ ४६ ॥

अपने शिखरोंका जो भार । नहीं जानता है गिरिवर ।
भूमिका बोझ वराहावतार । नहीं जानता जैसे ॥ ४७ ॥

अनेक भूतोंके भारसे । पृथ्वी नहीं दबती वैसे ।
वह भी अनेक द्वंद्वोंसे । दबता नहीं ॥ ४८ ॥

नदी नद अनेक आते । जल-प्रवाह तीव्र लाते ।
समुद्र उसे समा लेते । अपनेमें जैसे ॥ ४९ ॥

वैसे उसके पास कभी कहीं । न सहना ऐसे कुछ भी नहीं ।
सहता जो कुछ है सभी कहीं । स्मरण भी न रखता ॥ ३५० ॥

उसको जो कुछ भी मिलता । उसको अपना कर लेता ।
सहनेका वहां नहीं पता । रहता कहीं ॥ ५१ ॥

यह जो अनाकोश क्षमा । जिसके पास प्रियोत्तम ।
जान तू वह है महिमा । ज्ञानका ही ॥ ५२ ॥

ऐसा पुरुष अर्जुन । ज्ञानका मानो जीवन ।
अब करें विवेचन । आर्जवका ॥ ५३ ॥

५ ज्ञानका लक्षण, ऋजुता—

जान तू आर्जव है ऐसे । प्राणका सौजन्य हो जैसे ।
सबपे यह समान-से । रहता जान ॥ ५४ ॥
जैसे मुख देखकर प्रकाश । नहीं देता जिस भांति चंडांश ।
विश्वको एकसा ही अवकाश । जैसे देता गगन ॥ ५५ ॥

ऐसे होता इसका मन । सबसे एक ही समान ।
तथा वैसा होता वर्तन । एकसा ही ॥ ५६ ॥

जगतसे उसका परिचय । निकटका नाता है अतिशय ।
भाषा नहीं वहां आप-परया । सुननेमें आती ॥ ५७ ॥

मेल मिलाप सबसे । पानीका रहता जैसे ।
चितमें विकल्प ऐसे । रहता नहीं ॥ ५८ ॥

चलता है जैसे पवन । वैसा है उसका मन ।
संदेह लोभ कभी न । करता वह ॥ ५९ ॥

माताके सम्मुख बालक । आता है जैसे निःशंक ।
वैसे ही लोगोंके सम्मुख । उसके विचार ॥ ३६० ॥

कमलिनी जैसे ही सु-विकसित । न करती सुगंध संकुचित ।
वैसे ही नहीं रहता गुपित । अंतःकरण उसका ॥ ६१ ॥

निर्मलता जो रत्नोंकी । रत्नसे भी किरणोंकी ।
आगे होती है मनकी । तथा है कृति ॥ ६२ ॥

सदा वह संकल्प रहित । रहता अत्मानुभव तृप्त ।
नहीं लीपता उसका चित्त । तथा तजता नहीं ॥ ६३ ॥

झेंप कभी दृष्टिमें । संधिग्धता वाणीमें ।
हीन-बुध्दि मनमें । नहीं आती ॥ ६४ ॥

इंद्रियां सभी प्रांजल । निष्प्रपंच औ' निर्मल ।
पंच-प्राण सर्व-काल । रहते मुक्त ॥ ६५ ॥

जैसे अमृतकी धार । वैसे उसका अंतर ।
या इन चिन्होंका घर । होता है वह ॥ ६६ ॥

ऐसा पुरुष धनुर्धर । ऋजुताका है अवतार ।
या ज्ञानने किया घर । उसमें सदैव ॥ ६६ ॥

६ ज्ञानका लक्षण, आचार्योपासना-गुरुभक्ति—

अब मैं इसके अनंतर । कहता गुरु-भक्ति-प्रकार ।
उनको सुन चित्त देकर । धनंजय तू ॥ ६८ ॥

मानो सभी प्रकारके सुदैव । जन्म देती हैं यह गुरु-सेवा ।
तथा पाता शोकाकुल जीव । ब्रह्म-पद परम ॥ ६९ ॥

कहता हूं आचार्योपासना । प्रकट रूपमें मैं अर्जुन ।
चित्त देकर इसे सुनना । निष्ठा-पूर्वक ॥ ३७० ॥

समर्पण भाव—

जैसे सकल जल समृद्धि । लेके घुसती गंगा उदधि ।
या ब्रह्म-पदमें वेद-बुद्धि । करती प्रवेश ॥ ७१ ॥

या लपेटकर संपूर्ण जीवित । सर्वस्व गुण अवगुण सहित ।
करती है अपने सह अर्पित । पतिव्रता पतिको ॥ ७२ ॥

वैसे ही सर्वस्व अपना । गुरु-कुलको समर्पना ।
गुरु-भक्ति-गृह बनाना । अपनेको ही ॥ ७३ ॥

गुरु-गृह वियोग—

जो है गुरु-गृहका देश । उससे भरता मानस ।
विरहिणीका मानस । प्रियसे जैसे ॥ ७४ ॥

गुरु-गृहसे जो आता पवन । देख उसका करके सम्मान ।
सनम्र कहता कर नमन । घर पधारिये ॥ ७५ ॥

गुरु-गृहका पागलपन । भाता उस ओरका वचन ।
अमानत जो रखता प्राण । गुरु-गृहमें ही ॥ ७६ ॥

गुरु-अज्ञाने मानो पकडा । देहको गावमें है जकड़ा ।
पगहासे गोठेमें बछडा । उसी भांति ॥ ७७ ॥

कब यह बंधन हटेगा । गुरुका दर्शन कब होगा ।
उसको निमिष भी बनेगा । युगसे बडा ॥ ७८ ॥

मानो गुरु-ग्रामसे कोई आया । अथवा गुरुने ही भेज दिया ।
हतायुको आयुष्य मिल गया । ऐसा होता है ॥ ७९ ॥

या सूकता हुवा अंकुर । पा लेता है जलकी धार ।
या अल्पोदकसे सागर । आयी मछली ॥ ३८० ॥

या रंकने पाया निधान । या अंधेने पाये नयन ।
भिक्षुकने पाया महान । इंद्र-पद जैसे ॥ ८१ ॥

नाम सुन ऐसे गुरु-कुलका । महा-सुख बढ़ता उसका ।
मानो आलिंगन गगनका । लिया जैसे ॥ ८२ ॥

गुरुकुलमें ऐसी जिसकी । ममता देखता तू उसकी ।
सेवा करता ज्ञान सदाकी । जान तू पार्थ ॥ ८३ ॥

गुरुकी मानस पूजा—

तथा जो हृदय-मध्यमें । डूबकर गुरु-प्रेममें ।
लीन होना उपासनामें । गुरुकी नित ॥ ८४ ॥

हृदय-शुद्धिका जो मंदिर । आराध्य जो वहां गुरुवर ।
सर्व-भावसे है परिवार । बनता आप ॥ ८५ ॥

अथवा है ज्ञानका मंदिर । उसमें आनंद पीठपर ।
ध्यानामृत-स्नान निरंतर । करता गुरु लिंगका ॥ ८६ ॥

उदय होते ही बोधार्क । बुध्दिके अक्षत सात्विक ।
भरके चढ़ाता अंबक- । पर लक्षाब्धि ॥ ८७ ॥

शुद्ध- त्रिकालमें निरंतर । जीव-दशा धूप जलाकर ।
जलाके ज्ञानारती कर्पूर । उतारता है ॥ ८८ ॥

सामरस्यका रस-पूर्ण । नैवेद्य कर समर्पण ।
आप बन पूजा-ब्राह्मण । गुरुको लिंग ॥ ८९ ॥

गुरुकी मधुरा-भक्ति—

अथवा जीवकी शैया पर । गुरु-पतिका आश्रय कर ।
प्रेम-भोग लेता निरंतर । बुध्दिसे जो ॥ ३९० ॥

कभी किसी समयमें ऐसे । अनुराग भरे हृदयसे ।
गुरु-स्मरण होता है जिसे । कहे क्षीर-सागर ॥ ९१ ॥

जहां ध्येय-ध्यान अति सुख । शेष-शैया पर जो निर्दोष ।
पहुंचा है जो उसको देख । माना है श्री गुरु ॥ ९२ ॥

गुरुकी सेव्य-सेवक तथा वात्सल्य-भक्ति—

चरण-सेवामें वहां लीन । लक्ष्मीको अपना रूप मान ।
गरुड़ हो करता नमन । आप ही जो ॥ ९३ ॥

नाभीमें स्वयं जन्म लेता । गुरु-प्रेममें जो रमता ।
ध्यान-सुख अनुभवता । चितमें सदा ॥ ९४ ॥

कभी अपने भाव-बलसे । माता मान श्रीगुरुको जैसे ।
स्तन-पानके भावोन्मादसे । लेटता गोदमें ॥ ९५ ॥

या देख चैतन्य-तरुकी छाया । बनाके गुरु-कामधेनु गाय ।
बछडा बन आप पीछे गया । कल्पनामें गुरुके ॥ ९६ ॥

या मान गुरु-कृपा स्नेह-नीर । स्वयं बन उसमें जलचर ।
करता भक्ति-क्रीडा-विहार । कभी कल्पनासे ॥ ९७ ॥

होती गुरु-कृपा अमृत-वृष्टि । आप होता है सेवा-वृत्तिकी सृष्टि ।
इस प्रकारके संकल्पमें तुष्टि । पाता रहता वह ॥ ९८ ॥

बनता कुक्षि पक्ष बिन चेंदुवा । अपने मनमें वह है पांडव ।
उसके अथाह प्रेम-वैभव । इस भांतिके ॥ ९९ ॥

गुरुको पक्षिणी कर । चारा लेता चंचु पर ।
गुरुका जहाज कर । तरता आप ॥ ४०० ॥

गुरु-चिंतन, प्रसाद-सेवन—

जैसा भरा हुवा पूर्ण सागर । प्रसवता लहरपे लहर ।
वैसे ही ध्यानसे ध्यान-विचार । उमडते आते ॥ १ ॥

सदैव वह इस भांति । अंतरमें श्री गुरु-मूर्ति ।
भोगता अब बाह्यावर्ती । कैसे सुन तू ॥ २ ॥

करता मनमें निश्चय एक । करुंगा मैं गुरु-सेवा नेक ।
जिससे कहे गुरु स-कौतुक । कुछ मांग ले तू ॥ ३ ॥

देख ऐसी सच्ची उपासना । कहेंगे श्री गुरु हो प्रसन्न ।
तब करुंगा नम्र प्रार्थना । इस भांति मैं ॥ ४ ॥

कहूंगा श्री गुरुवर । मुझे देना ऐसा वर ।
बनूं सारा परिवार । मैं ही आपका ॥ ५ ॥

तथा उपयोगी वस्तु आपके । उपकरण सभी यहांके ।
मेरे ही रूप बने उसके । आपकी कृपासे ॥ ६ ॥

ऐसा म मांगूंगा वर । हां कहेंगे गुरु वर ।
फिर वह परिवार । बनूंगा मैं ॥ ७ ॥

गुरु-जीवनमें संपूर्ण समरसता—

उपकरण जात सकल । बन जाऊंगा मैं ही केवल ।
शुश्रूशा होगी तब सकल । वैभव-युक्त बन ॥ ८ ॥

गुरुवर माय अनेकोंकी । किंतु कर लूंगा मैं एककी ।
रज बनके पद-तलकी । उनकी कृपासे ॥ ९ ॥

पगलाऊंगा गुरु-अनुराग । लेंगे वे एक पत्नी-योग ।
मुझमें गुरु-अनुराग । लेगा क्षेत्र-संन्यास ॥ ४१० ॥

कितना ही बहे समीर । चार दिशाओंके अंदर ।
वैसे गुरु-कृपा-पंजर । बनूंगा मैं ॥ ११ ॥

अपने गुणोंका कर भूषण । गुरु-सेवा-स्वामिनीके चरण ।
सजाऊंगा बन मैं आच्छादन । भक्ति-पूर्वक ॥ १२ ॥

गुरु-स्नेहकी होगी वृष्टि । तले मैं पृथ्वी बन तुष्टि ।
पावुं ऐसी इच्छाकी सृष्टि । करता रहता ॥ १३ ॥

तथा श्रीगुरुका भवन । आप ही मैं सर्वस्व बन ।
करूंगा दास्य अनु दिन । वहांका सारा ॥ १४ ॥

आने जानेमें दातार । करेंगे देहरी पार ।
बनूंगा उसका द्वार । तथा द्वार-पाल ॥ १५ ॥

मैं गुरु-पादुका बनूंगा । उनको मैं ही चढ़ाऊंगा ।
छत्र-चामर भी बनूंगा । बारिबारिसे ॥ १६ ॥

बनूंगा मैं पथ-दर्शक । चंवर-धर हस्तक ।
औ' हाथमें ले दीपक । चलूंगा मैं ॥ १७ ॥

उनकी झारी बनूंगा । कुल्लेका पानी भी दूंगा ।
कुल्ला-पडगा भी बनूंगा । बनूंगा सर्वस ॥ १८ ॥

बांधूंगा हडप मैं । झेलूंगा थूंक भी मैं ।
करुंगा दासता मैं । स्नानादीकी ॥ १९ ॥

बनूंगा गुरूका आसन । अलंकारिक परिधान ।
उपचारार्थ मैं चंदन । बन जाउंगा ॥ ४२० ॥

बनूंगा रसोईदार । वैसे ही मैं उपहार ।
आरती मैं बनकर । उतारुं श्री गुरुको ॥ २१ ॥

श्री गुरु करेंगे आरोगन । मैं ही बनूंगा पंगत-जन ।
मैं दूंगा भोजनोत्तर पान । आगे बढकर ॥ २२ ॥

उठाऊंगा मैं जूठन । सेज पर बिछावन ।
तथा चरण-सेवन । करूंगा मैं ही ॥ २३ ॥

आप बनूंगा मैं सिंहासन । करेंगे श्री गुरु आरोहण ।
तब होगा पूर्णत्व ही जान । सेवा-धर्मका ॥ २४ ॥

तथा श्री गुरूका मन । करेगा किसीका ध्यान ।
विषय जो विलक्षण । बन जाऊं मैं ॥ २५ ॥

श्रवणांगणमें श्री गुरूके । बनूंगा शब्द लक्ष्यके ।
स्पर्श होगा जहां अंगांगके । बनूंग मैं वह ॥ २६ ॥

तथा श्रीगुरुके नयन । स्नेह-पूर्ण अवलोकन ।
करेंगे जो रूप-दर्शन । बनूंगा मैं आप ॥ २७ ॥

उनकी रसनाको जो रुचेगा । सभी वे रस मैं बन जाऊंगा ।
सुगंध-रूपसे मैं ही करुंगा । घ्राण-सेवा ॥ २८ ॥

ऐसे ब्रह्म-मनोगत । श्रीगुरु-सेवा समस्त ।
बनकर वस्तु जात । करुंगा मैं ॥ २९ ॥

जब तक रहेगा यह शरीर । तब तक होगी सेवा भी सुंदर ।
देहांत पर होगा जो चमत्कार । सुनो बुध्दिका ॥ ४३० ॥

रज कण बनाके मैं तन । एकत्र करूंग उसी स्थान ।
पड़ेंगे श्री गुरुके चरण । जिस स्थानपे ॥ ३१ ॥

मेरे श्री गुरु स-कौतुक । करेंगे स्पर्श जो उदक ।
वहां ले जांऊंगा मैं ठीक । प्रवाहमें आप ॥ ३२ ॥

श्री गुरुकी जहां होती आरती । या गुरु-गृहमें जली ज्योति ।
बनाऊंगा उन दीपोंकी दीप्ति । अपने तेजसे ॥ ३३ ॥

झलते हैं जहां उनपे चंवर । लय करूंग वहां मैं प्राण-सार ।
पाऊंगा ऐसा मैं सेवाका आधार । श्रीगुरु चरणका ॥ ३४ ॥

करेंगे जहां जहां श्री गुरु वास । वहां लय करूं शून्यमें आकाश ।
शरीर-गत पंच-तत्व विशेष । ले जाऊं श्री चरणोंमें ॥ ३५ ॥

जीकर या मरकर सतत । करूं ऐसे श्री गुरु-सेवा-व्रत ।
नहीं छोडूंगा औरोंको निश्चित । कल्पांतमें भी ॥ ३६ ॥

ऐसा जो धैर्य-संपन्न । सेवा-निरत है मन ।
होता है सीमा-विहीन । वह अपार ॥ ३७ ॥

रात्र-दिवस न जानता । अल्प बहुत न कहता ।
गुरु-आज्ञासे है खिलता । अधिकाधिक वह ॥ ३८ ॥

कार्य जो उसके निमित्त । होता गगनसे विस्तृत ।
करता अकेला समस्त । एक ही समयमें ॥ ३९ ॥

हृदयसे आगे दौडता । शरीर काजमें लगता ।
मनसे ही दौड़ा करता । काम करनेमें ॥ ४४० ॥

कभी कभी किसी काल । सुन श्री गुरुके बोल ।
करें अपना सकल । न्योच्छावर ॥ ४१ ॥

गुरु-सेवामें जो कृश । गुरु-प्रेममें संतोष ।
गुरु आज्ञामें निवास । करता आप ॥ ४२ ॥

गुरु-कुलमें जो स्व-कुलीन । गुरु-बंधु सौजन्य-सुजन ।
गुरु-सेवा व्यसनमें लीन । निरंतर जो ॥ ४३ ॥

गुरु-संप्रदाय है धर्म । वही उसका वर्णाश्रम ।
गुरु-सेवा ही नित्य-कर्म । उसके लिये ॥ ४४ ॥

गुरु-क्षेत्र गुरु-देवता । गुरु ही माता तथा पिता ।
इसके बिना न जानता । मार्ग अन्य ॥ ४५ ॥

श्री गुरुका ही है द्वार । उसका सर्वस्व-सार ।
गुरु-दास सहोदर । मानता प्रेमसे ॥ ४६ ॥

सदैव जिसका वक्त्र । गाता गुरु-नाम-मंत्र ।
गुरु-वाक्य बिन शास्त्र । न छूता जो ॥ ४७ ॥

श्री गुरुका पादोदक । जैसे भी हो जो उदक ।
सब तीर्थसे अधिक । मानता वह ॥ ४८ ॥

श्री गुरुका वह जूठन । सहसा पाकर प्रसन्न ।
होकर समाधि भी लीन । मानता वह ॥ ४९ ॥

गुरु-चरणके जो रज-कण । उडाता जों सहज श्रीचरण ।
तदर्थ कैवल्य-सुख-दान । करता वह लीलासे ॥ ४५० ॥

अजी ! करना कितना विस्तार । गुरु-भक्तिका नहीं ओर-छोर ।
लहराया गुरु-भक्ति-सागर । कहा गया इतना ॥ ५१ ॥

जिसे प्रेम है इस भक्तिका । औसुक्य भी इस विषयका ।
रस न आता बिना सेवाका । चितमें अन्य ॥ ५२ ॥

तत्व-ज्ञानका वह आधार । ज्ञान लेता उससे आकार ।
ऐसा वह प्रत्यक्ष ईश्वर । ज्ञान उसका भक्त ॥ ५३ ॥

जान देता वहां साक्षात्कार । प्रत्यक्ष हो ज्ञान भुक्त-द्वार ।
विश्वमें वह अपरंपार । होता इस भांति ॥ ५४ ॥

गुरु-सेवामें मेरा आदर । अंतःक्रणमें भर-पूर ।
इसलिये किया है विस्तार । इस विषयका ॥ ५५ ॥

वैसे मैं लूला हूं हाथोंसे । अंधा हूं भजन-ध्यानसे ।
लंगडा हूं गुरु-शुश्रूषासे । ऐसा मंद बुध्दि ॥ ५६ ॥

गुरु गुण-गानेमें मैं हूं मूक । आलसी ऐसा उदर पोषक ।
मनमें गुरु-अनुराग नेक । रहा सदैव ॥ ५७ ॥

यही है एक कारण । यह शरीर पोषण ।
करना पड़ा रक्षण । कहता ज्ञानदेव ॥ ५८ ॥

करके यह विस्तार सहन । दिया सेवा अवसरका दान ।
अब करूंगा सार्थ कथन । केवल-मात्र ॥ ५९ ॥

अजी ! सुनो सुनो श्रीकृष्ण । वह भूत-भार-सहिष्णु ।
कहता है वह श्रीविष्णु । सुनता पार्थ ॥ ४६० ॥

६ ज्ञानका लक्षण, पावित्र्य—

अजी ! शुचित्व जो है ऐसा । जिसके पास दीखे ऐसा ।
तन मन बना हो जैसा । कर्पूरसे ही ॥ ६१ ॥

अथवा रत्नका है अंकुर । जैसे स्वच्छ अंदर बाहर ।
वैसे ही प्रकाशता भास्कर । अंतरबाह्य ॥ ६२ ॥

कर्मसे शरीर निर्मल । ज्ञानसे हृदय उज्वल ।
अंतर्बाह्य ऐसा सोज्वल । परिशुद्ध ॥ ६३ ॥

मृत्तिका और जल । होता बाहर मेल ।
निर्मल होते बोल । वेदके जैसे ॥ ६४ ॥

चाहे जब बुद्धिका बल । करता दर्पण उज्वल ।
सोंदणी करता उज्वल । कपडेका दाग ॥ ६५ ॥

इस भांति उसका शरीर । कर्मसे हुआ शुद्ध बाहर ।
तथा ज्ञान-दीप है अंतर । तभी परिशुद्ध ॥ ६६ ॥

वैसे सुन तू पांडु-सुता । अंदर जो शुद्ध न होता ।
बाहर जो कर्म करता । वह है उपहास ॥ ६७ ॥

जैसा लाश पर लादा आभूषण । या गर्दभको डाला प्रयाग-स्नान ।
कडुवी तुंबी पर मधु-लेपन । किया वैसे ॥ ६८ ॥

या उजाड-घरमें बंधनवार । अन्न लगाया भूखोंके पेट पर ।
अथवा बिंदी लगायी माथे पर । विधवाने जैसे ॥ ६९ ॥

कलश चढाया कल्थीका पोला । ऊपर चमकता सोना-सा पीला ।
वैसे क्या कामका है चित्रका फल । अंदर है गोबर ॥ ४७० ॥

वैसे है कर्म बाहरका । हीन-वस्तु नहीं मोलका ।
गंगामें धोनेसे मलका । घडा न होता शुद्ध ॥ ७१ ॥

अजी ! अंतर होता ज्ञानसे उज्वल । तभी बाहर होता है कर्म निर्मल ।
किंतु कहां होता ज्ञान-कर्मका मेल । ऐसे संभव ॥ ७२ ॥

इसीलिये बाह्य-भाग । धोया कर्मसे सर्वांग ।
ज्ञानसे मिटाया जंग । अंतरंगका ॥ ७३ ॥

इससे अंतर बाह्य गया । एक निर्मलत्व ही भया ।
अथवा मात्र रह गया । शुचित्व ही ॥ ७४ ॥

सद्-भाव जो जीवगत । बाहर होता है प्रकटित ।
स्फटिक सदनमें स्थित । दीपक जैसे ॥ ७५ ॥

जिससे विकल्प उपजते । व्यर्थके विकार भी उठते ।
कु-प्रवृत्ति-बीजमें पूटते । अंकुर अनेक ॥ ७६ ॥

बात ऐसी सुन या देखता । चितपे तरंग न उठता ।
जैसे आकाश नहीं मलता । बादलोंसे ॥ ७७ ॥

वैसे इंद्रियां भोग-लिप्त । विषय-रत हो सतत ।
किंतु विकार नहीं स्फूर्त । होते वहां ॥ ७८ ॥

किसी पथ पर किसी दिन । हो भली बुरी स्त्रीका दर्शन ।
नहीं होते विकार उत्पन्न । उसी भांति ॥ ७९ ॥

या पति-पुत्रसे आलिंगन । करे एक ही तरुणांगना ।
पुत्र-भावमें वहां स्फुरण । होता नहीं कामका ॥ ४८० ॥

जिसका हृदय है वैसे निर्मल । संकल्प-विकल्प ज्ञानमें कुशल ।
कृत्य-अकृत्य जानता जो सकल । सभी प्रकारके ॥ ८१ ॥

पानीमें जैसे हीरा नहीं भीगता । उबालनेसे कंकड नहीं गलता ।
वैसे जिसका चित्त नहीं लीपता । विकल्पसे कभी ॥ ८२ ॥

इसका नाम शुचिता । सार्थ है जान तू पार्थ ।
जहां देखो वहां बसता । निःशंक-ज्ञान ॥ ८३ ॥

८ ज्ञानका लक्षण, स्थैर्य—

तथा स्थैर्य जहां बसता । चित्तका घर बना लेता ।
वह पुरुष जान पार्थ । जीवन ज्ञानका ॥ ८४ ॥

लदा देह कार्य-रत । चलता अपना पथ ।
किंतु होता स्थिर-चित्त । अंतरंगमें ॥ ८५ ॥

बछडे परसे गायकी जैसे । न जाती ममता वनमें वैसे ।
सती जानेमें पतिके भोगसे । प्रिय नहीं होते ॥ ८६ ॥

अथवा लोभी जाता है दूर । चित्त रहता गांठ ही पर ।
वैसे चलनेसे भी शरीर । चित्तसे वे अचल ॥ ८७ ॥

चलते रहते हैं बादल । रहता है आकाश निश्चल ।
भ्रमण-चक्रमें अचल । ध्रुव है जैसे ॥ ८८ ॥

पथिकोंका होता अवागमन । साथ पथ न चलता अर्जुन ।
वृक्ष भी नहीं छोडते स्वस्थान । वैसे जान तू ॥ ८९ ॥

वैसे ही चलन-वलनात्मक । शरीर है यह पंच भौतिक ।
पंच-भूतोर्मियोंमें वह एक । रहता है स्थिर ॥ ४९० ॥

जैसे बवंडरका कल्लोल । पृथ्वीको न करते चंचल ।
वैसे उपद्रवोंके उबाल । उसको डिगाते नहीं ॥ ९१ ॥

दैन्य-दुःखमें जो नहीं तपता । भय-शोकमें जो नहीं कांपता ।
शरीरके नाशमें नहीं ढलता । भयसे कभी ॥ ९२ ॥

आशा-आसक्तिके भारसे । वार्धक्य-व्याधिके विशेष भयसे ।
आगे औ' पीछे लगे रहनेसे । रहता जो निश्चल ॥ ९३ ॥

निंदा या तेजोवधसे अपमानित । काम-लोभादिकसे भी जो आच्छादित ।
किंतु अंतरंगमें रहता है शांत । रोम भी हिलता नहीं ॥ ९४ ॥

आकाश भी है यदि टूटता । भूमिका मध्य-बिंदु ढलता ।
तो भी परावृत्त नहीं होता । चित्तसे वह ॥ ९५ ॥

हाथी पे किया फूलसे प्रहार । उसको नहीं लगता है मार ।
वैसे तीखे दुर्बचन प्रहार । उसको न करें अशांत ॥ ९६ ॥

जैसे क्षीरार्णव-कल्लोल । न कंपाता मंदराचल ।
या प्रचंड अग्निका ज्वाल । नहीं जलाता आकाश ॥ ९७ ॥

आती जाती है मानो लहर । किंतु चित्त न होता अस्थिर ।
क्षमा-धैर्यका वह आधार । कल्पांतमें भी ॥ ९८ ॥

स्थैर्यकी यह परि-भाषा । कही है मैंने सविशेष ।
देख यह लक्षण-दशा । अति स्पष्ट ॥ ९९ ॥

पराक्रम-पूर्ण यह स्थिरता । अपनेमें जो अंतर्बाह्य पाता ।
ज्ञानका सागर ही बनता । अपने आप ॥ ५०० ॥

९ ज्ञानका लक्षण, इंद्रिय-निग्रह—

सांप जैसे शत्रुका घर । सैनिक अपना हत्यार ।
लोभी अपना भंडार । नहीं भूलते ॥ १ ॥

अथवा इकलौता बालक । माताका सर्वस होता नेक ।
मधुपे जैसे मधु-मक्षिका । लोभिन होती ॥ २ ॥

इस भांति जो अर्जुन । करता स्वचित्त जतन ।
उन्हे न देता कभी स्थान । इन्द्रिय-द्वारमें ॥ ३ ॥

कहता काम-भकाऊ सुनेगी । या आशाकी चुडैल देखेगी ।
अंत:करणकी स्थिति जानेगी । इससे डरता हूं ॥ ४ ॥

बाहरकी ढीलको जैसे । साहसी पुरुष भी वैसे ।
मुठ्ठीमें ही रखता वैसे । अपनी वृत्तिको ॥ ५ ॥

रखता है संयममें नित । अंतरको रखके सचेत ।
रखता तनको नियमित । आजीवन ॥ ६ ॥

मनके महाद्वार पर । प्रत्याहारके थाने पर ।
यम-दमके चौकीदार । बिठाता सदैव ॥ ७ ॥

आधार-नाभि-कंठमें । बंध-त्रयके घरमें ।
चन्द्र-सूर्य संपुटमें । सुलाता नित ॥ ८ ॥

समाधि-शैयाके पास पार्थ । लांघ रखता ध्यान सतत ।
तथा चित्त-चैतन्यमें रत । रखता उमगसे ॥ ९ ॥

यह जो चित्तकी स्थिति है । कहाता चित्त-निग्रह है ।
यही सदैव विजय है । ज्ञानका ही ॥ ५१० ॥

जिसकी आज्ञा सदैव अर्जुन । झेलता रहता अंतःकरण ।
उसको मनुष्याकारमें जान । आज्ञा-स्वयं ॥ ११ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

१० ज्ञानका लक्षण, वैराग्य—

विषयोंके विषयमें । सदा वैराग्य मनमें ।
भर आता उमंगमें । जिसके है ॥ १२ ॥

वमन किया हुवा अन्न । न चाहता रसना-मन ।
न होती इच्छा-अलिंगन । करने की प्रेतसे ॥ १३ ॥

जैसे विष भोजन नहीं भाता । जलते घरमें न जाया जाता ।
व्याघ्र-गव्हरमें नहीं करता । वसति-स्थान ॥ १४ ॥

तप्त-लोह-रसमें जैसे । कूदा नहीं जाता है वैसे ।
तकिया न करता जैसे । अजगरका कोई ॥ १५ ॥

इस भांति जिसको अर्जुन । विषय-वार्ता न भाती जान ।
इन्द्रिय-सुखमें विषयान्न । नहीं जाने देता ॥ १६ ॥

चित्तमें निरहंकार विषयोंमें विरक्तता ।
जन्म-मृत्यु-जरा रोग दुःख दोष विवेचना ॥ ८ ॥

ाषयोंमें जो आलस्य । शरीरमें सदा कार्ष्य ।
म-दममें स्वारस्य । रहता जिसका ॥ १७ ॥

म-व्रतोंका सम्मिलन । होता है उसका जीवन ।
ानता युगांत समान । जनमें आनेको ॥ १८ ॥

ागाभ्यासमें आस । विजनोंमें उल्हास ।
न-संगकी भास । भाती नहीं ॥ १९ ॥

र-शैयापे शयन । पूय-पंकमें लुंटन ।
से ही भोगता मान । विषय भोग ॥ ५२० ॥

था स्वर्ग-प्राप्तिकी बात । सुननेमें भी घृणा पार्थ ।
ानो वह श्वान-पिशित । सडा हुवा जो ॥ २१ ॥

ह है विषय-वैराग्य । आत्म-लाभका जो सौभाग्य ।
ससे ब्रह्मानंद-योग्य । होता जीव ॥ २२ ॥

भय भोगमें जो त्रास । पाता है जिसका मानस ।
हां जान करता वास । ज्ञान सदैव ॥ २३ ॥

ज्ञानका लक्षण, अनहंकार—

रता जो निष्ठा पूर्वक । सत्कार्य नित्य नैमित्तिक ।
र्तृत्व-भावसे अलीक । रहता अलिप्त ॥ २४ ॥

र्णाश्रमके पोषक । कर्म नित्य-नैमित्तिक ।
रें नियम-पूर्वक । अखंडित ॥ २५ ॥

कंतु यह सब मैंने किया । या यह मुझसे सिध्द भया ।
मरणमें भी न रखा गया । कभी किंचित ॥ २६ ॥

महसा जैसा पांडुकुमार । वायुका होता सर्व-संचार ।
ा उदय होता है भास्कर । निराभिमानसे ॥ २७ ॥

ा श्रुतिके स्वाभाविक बोल । या गंगाकी निरुद्देश्य चाल ।
सके व्यवहार सकल । ऐसे अहंकार शून्य ॥ २८ ॥

उचित-समय जैसे वृक्ष फलते । हम फले या नहीं यह न जानते ।
ऐसी वृक्ष-वृत्तिसे जो हैं रहते । कर्म रत सदैव ॥ २९ ॥

ऐसे मन कर्म-वचन । अहंकार रहित जीवन ।
मणि-मालाका खींचा जान । बीचका सूत्र ॥ ५३० ॥

संबंध बिन जैसे बादल । आकाशमें चलते हैं चाल ।
ऐसे कर्म उसके सरल । तनसे होते हैं ॥ ३१ ॥

शराबीके तनपे वस्त्र । या चित्रके हाथमें शस्त्र ।
बैल पर लादा है शास्त्र । वैसे ही अर्जुन ॥ ३२ ॥

उसको जैसे इस शरीरमें । मैं हूं इसका भान न हो मनमें ।
निरहंकारिता है सहजमें । कहते इसको ॥ ३३ ॥

संपूर्ण जहां यह दीखता । वहीं है ज्ञान घर करता ।
नहीं है यहां आवश्यकता । संदेहकी कोई ॥ ३४ ॥

१२ ज्ञानका लक्षण, गुणदोष-दर्शन—

जन्म मृत्यु जरा दुःख । व्याधि वार्धक्य कलुष ।
सावध रहता देख । दूरसे जो ॥ ३५ ॥

मांत्रिक जैसे पिशाचका । तथा योगी उपसर्गका ।
राजा आगे पीछे होनेका । देखता पहलेसे ही ॥ ३६ ॥

जैसे वैर जन्मांतरका । साप न जाने भूलनेका ।
वैसे वह पूर्व जन्मका । धोता दोष ॥ ३७ ॥

आंखमें कंकर न घुलता । घावमें बरछा न सहता ।
वैसा वह दुःख न भूलता । जन्म-जन्मका ॥ ३८ ॥

पूय-गर्तमें मैं गया । मूत्र-रंध्रमें निभाया ।
सहज ही स्वाद लिया । कुच-स्वेदका ॥ ३९ ॥

सदैव वह इस प्रकार । करता है जन्मका विचार ।
जिससे हो जन्म बार बार । ऐसा न करता कुछ ॥ ५४० ॥

जैसे दांव हारा हुवा जुवारी । जीतनेमें करता फुरहरी ।
अथवा जैसे बापका वैरी । मारता पुत्र ॥ ४१ ॥

हत्याके बाद अपनोंका नेक । बदला लेता है अंग-रक्षक ।
ऐसे यह जन्मका है देख । पीछा करता ॥ ४२ ॥

किंतु जनमकी जो लाज । न छोडता अपनी निज ।
संभावित जैसे निस्तेज । सहता नहीं ॥ ४३ ॥

तथा मृत्यु आगे आयेगी । कल्पांतमें जा जकडेगी ।
किंतु उसकी आज होगी । तत्परता जागृत ॥ ४४ ॥

मध्य-प्रवाह अथाह सुनकर । तैरनेवाला जैसे किनारे पर ।
सावधान हो कमर बांधकर । होता है सिद्ध ॥ ४५ ॥

या रणमें जानेसे पूर्व अर्जुन । संभालकर होता है सावधान ।
घाव लगनेसे पूर्व ही ओढन । आगे करता जैसे ॥ ४६ ॥

या जानके आगेका पथ-बध । पथिक होता पहले सावध ।
अथवा मृत्युसे पूर्व औषध । करते जैसे ॥ ४७ ॥

नहीं तो सदैव ऐसा होता । जलते घरमें है फंसता ।
तब कुंआं खोदने जो लगता । व्यर्थ होता जान ॥ ४८ ॥

अथाह गर्तमें डूबे जैसे पत्थर । संसार सागरमें वैसे धनुर्धर ।
डूब गये हैं कई चीख चीखकर । ऐसा करेगा कौन ॥ ४९ ॥

जिसका रहता समर्थसे वैर । तब वह जैसा आठ ही पहर ।
रहता है बांधकर तलवार । सावधान हो ॥ ५५० ॥

बाप मानता कन्या उपवर । या सन्यासी रहता मरने तैयार ।
वैसे वह सदैव मृत्युका विचार । करता रहता है ॥ ५१ ॥

ऐसे जन्मसे जन्म-निवारण । औ' मृत्युसे कर मृत्यु-हरण ।
स्वयं रहता करके धारण । अपना निज-रूप ॥ ५२ ॥

उसके घरमें ज्ञानका । अभाव न रहा जिसका ।
गया दुःख जन्म-मृत्युका । धनंजय ॥ ५३ ॥

न छूता उसका शरीर । वार्धक्य अभी धनुर्धर ।
तभी करता है विचार । तारुण्यमें वृद्धत्वके ॥ ५४ ॥

कहे आज इस अवसर । बडा हुवा है यह शरीर ।
होगा सूखा पातसा आखर । कल निश्चित ॥ ५५ ॥

जैसे दैव-हीनके व्यवसाय । मंत्री-हीन राजाके राज-कार्य ।
वैसे ही होंगे मेरे हाथ पाय । बल-हीन ॥ ५६ ॥

लेनेमें पुष्पोंकी गंध । नाक बनेगी निर्गंध ।
जैसे बधिर एकाध । ऊन्टकी टांग ॥ ५७ ॥

जैसे बोढर-पशुके खुर । सडते हैं कीचडमें भर ।
वैसे ही होगा मेरा शरीर । वार्धक्यसे ॥ ५८ ॥

ईर्शासे जो पद्म-दलसे । लडते नयन ये जैसे ।
होंगे सडे परवलसे । रूप-हीन ॥ ५९ ॥

भिवयोंके पलक जैसे । झूलेंगे जो गली-लालसे ।
गिरेंगे आंसू भी उनसे । सडेगा उर ॥ ६० ॥

गिरगिट कीकरपे दौडता । और कर्तारसे गजवजाता ।
उसी भांति है लारसे बनता । मुख मेरा ॥ ६१ ॥

रसोयी-घरकी नालीमें । बुदबुदाते मांड सांडमें ।
वैसे ही तब नाकमें । लथपतायेगा ॥ ६२ ॥

तांबूलसे होंठ सजाकर । हंस हंस दांत दिखाकर ।
बोलसे मैं सदा स-नागर । दिखाता अकड ॥ ६३ ॥

उन्हीं होंठ पर कल । आयेगी लार उबल ।
दांत दाढ भी निकल । जायेगी सब ॥ ६४ ॥

अथवा ऋणसे डूब जाता कृषक । वर्षा-झडी में पशु लगाते बैठक ।
वैसे उठ नहीं सकेगी यकायक । यही जीभ ॥ ६५ ॥

जैसे सूखे हुये तिनके । हवा में उडते घासके ।
वैसे ही डाढ़ीके बालोंके । होंगे हाल ॥ ६६ ॥

तथा झडीसे आषाढ़की । झरनी खाई पहाडकी ।
वैसे मुखसे लारकी । बहेगी धार ॥ ६७ ॥

बोल तुतला घिघियायेंगे । कान तुतुने बधिरायेंगे ।
पिंड जकड कुम्हलायेगा । मानो वानर-सा ॥ ६८ ॥

खेतोंमें हौवा जैसे घासका । कांपता खाके झोंका हवका ।
वैसे हाल होगा सर्वांग शरीरका । उस समय ॥ ६९ ॥

पैरमें पैर अटकेंगे । हाथ कांप सकुचायेंगे ।
शरीर-कर्म उपहासेंगे । अपने आपको ॥ ५७० ॥

होंगे मलमूत्रादिके द्वार । जैसे टूटे घडेके खापर ।
और मेरे निधनमें इतर । करेंगे मनौतियां ॥ ७१ ॥

यह देखके कोसेगा जग । होगा तब मृत्युका वियोग ।
आप्त-जन करेंगे उवग । तब मेरा ॥ ७२ ॥

स्त्रियां कहेंगी मुझको भूत । सुन होंगे बालक मूर्छित ।
इससे बनूंगा मैं सतत । घृणा-पात्र ॥ ७३ ॥

रातमें खांसीका उबाल । सोये हुये सुन सकल ।
"कितनोंको खायेगा काल" । कहेंगे "न जाने यह" ॥ ७४ ॥

वार्धक्यका ऐसा विज्ञापन । देख होता वह सावधान ।
तारुण्यमें ही उसका मन । होता उपशम ॥ ७५ ॥

कहता यह कल आयेगा । आजका भोगमें बीतेगा ।
आत्म-हितमें क्या रहेगा । अपने पास ॥ ७६ ॥

आनेसे पहले बधिरता । सुनने-योग्य सब सुनता ।
जब तक पंगु नहीं होता । करता देशाटन ॥ ७७ ॥

जब तक दृष्टि रहती । देखने योग्य देख लेती ।
जब तक वाचा रहती । गाता मंगल-गान ॥ ७८ ॥

हाथ होंगे ये तब बधिर । जान करता अब अधीर ।
सत्कर्मको वह निरंतर । दानादिक ॥ ७९ ॥

ऐसा होगा तब सकल । मन होगा जान पागल ।
ध्यान-मग्न होता निश्चल । आत्म-ज्ञानमें ॥ ५८० ॥

चोर आयेंगे दिनमें जो जानता । तभी संपत्तीकी व्यवस्था करता ।
दीप बुझनेसे पहले लगाता । वस्तु सुचारु रूपसे ॥ ८१ ॥

वैसे वार्धक्य कल आयेगा । यह सब ही व्यर्थ जायेगा ।
तारुण्यमें ही कर रखेगा । सभी व्यवस्था ॥ ८२ ॥

अति दुर्गम-पथ यह जान । संध्याकाल कर अवलोकन ।
आप मात्र निकला जो अर्जुन । क्या करेंगे चोर ॥ ८३ ॥

ऐसी जराकी आहट पाकर । जो व्यर्थ न हो यह जानकर ।
बैठा है शत-वृद्ध बनकर । उसको डरना क्या ? ॥ ८४ ॥

फटकी बालोंको फटकना । उससे न निकलना दाना ।
या राखको ही फिर जलाना । इससे होगा क्या ? ॥ ८५ ॥

करके वार्धक्यका विचार । किया उसका प्रभाव दूर ।
उसके पास ज्ञान अपार । रहता सदैव ॥ ८६ ॥

वैसे ही नहीं जब अनेक रोग । जिसके नहीं व्यापते सभी अंग ।
तभी वह आरोग्यका उपयोग । करता सदैव ॥ ८७ ॥

अजी ! सांपके मुखसे । गिरा हुआ कौर जैसे ।
तज देता सदा वैसे । बुध्दिमान ॥ ८८ ॥

जिसके वियोगसे दुःख । बढ़ते विपत्ति औ' शोक ।
तजके वैसे स्नेह-सुख । रहता उदासीन ॥ ८९ ॥

अजी ! दोष स्पर्शेंगे कैसे । न करता कर्म जो वैसे ।
नियमित कर्मेंद्रियोंसे । रोकके रहता ॥ ५९० ॥

ऐसे अनेक युक्तिसे । रहता है दक्षतासे ।
ज्ञान-संपत्तिका उसे । मानो स्वामी ॥ ९१ ॥

अब और ही एक । लक्षण अलौकिक ।
कहता सुन नेक । धनंजय ॥ ९२ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

१३ ज्ञानके लक्षण, अनासक्ति—

वह अपने शरीर पर । उदास होता इस प्रकार ।
पथिक पराये वस्तु पर । बैठा हो रक्षक ॥ ९३ ॥

या जैसे है साया वृक्षकी । क्षण भर मिली राहकी ।
घर पर नहीं उसकी । ममता उतनी भी ॥ ९४ ॥

सायाकी भांति रहता है जैसे । रह कर भी न जानता वैसे ।
रहता है अलोलुप भावसे । पत्नीमें नित ॥ ९५ ॥

वैसे ही संतानके विषयमें । रहता जैसे पंथी पड़ावमें ।
अथवा गोरु वृक्षकी सायामें । बैठ जाते हैं ॥ ९६ ॥

यदि वह रहता श्रीमंत । ऐसे रहता है पांडुसुत ।
जैसे रहा कोई साक्षीभूत । किसीके धनका ॥९७ ॥

या तोता जैसे पिंजडेमें । रहना स्वामीकी आज्ञामें ।
ऐसे वह वेद- आज्ञामें । रहता हो विधेय ॥ ९८ ॥

वैसे ही गृह-दारा-पुत्र । बना नहीं रखते मित्र ।
उसको तू जान पवित्र । नीव-ज्ञानकी ॥ ९९ ॥

१४ ज्ञानके लक्षण, अखंड सम-चित्तता—

तथा महा-सिंधु जैसे । ग्रीष्म-वर्षामें एकसे ।
इष्ट अनिष्ट भी, वैसे । जानता नहीं ॥ ६०० ॥

या तीन कालमें नहीं होता । तीन प्रकारका सविता ।
वैसे सुखदुःखमें रहता । समचित्त वह ॥ १ ॥

निःसंग वृत्ति कर्मोंमें पुत्रादिमें अलिप्तता ।
प्रिय अप्रिय लाभोंमें अखंड समचित्तता ॥ ९ ॥

जहां आकाशकी भांति । साम्यमें स्वामी न आती ।
जान तू सुभद्रापति । वहां है ज्ञान ॥ २ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

१५ ज्ञानका लक्षण, निष्काम एकनिष्ठ भक्ति—

वैसे ही बिना मेरे कहीं । श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं ।
ऐसा दृढ निश्चय सही । जिसने किया ॥ ३ ॥

काया-वाचा तथा मनसे । कृत-निश्चय किया ऐसे ।
मेरे बिना दूसरा ऐसे । नहीं देखते ॥ ४ ॥

या जिसने अपना मन । किया पूर्ण मुझमें लीन ।
एकत्वमें शय्या-समान । कर लिया है ॥ ५ ॥

चितामें जाते समय सती । अन्य न सोचती बिना-पति ।
ऐसे उसकी केवल गति । एकमात्र मैं हूं ॥ ६ ॥

मिल कर भी जो मिलता रहता । सागरसे नित प्रवाह सरिता ।
मैं बन कर भी मुझको भजता । वैसे वह सदैव ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यके साथ उदय होता । वैसे उसके साथ अस्त होता ।
यह पारतंत्र्य ही जैसे शोभता । प्रभाको सदैव ॥ ८ ॥

पानीकी सतह पर । उठता है पानी सुंदर ।
उसे कहते लहर । वैसे वह पानी ही ॥ ९ ॥

अनन्य जो इस प्रकार । हुवा है नित मुझपर ।
मूर्तिमंत है धनुर्धर । ज्ञान-रूप जो ॥ ६१० ॥

१६ ज्ञानका लक्षण, सदा एकांतमें प्रीति—

होती सदा चाह उसकी । तीर्थ-क्षेत्रोंमें रहनेकी ।
वन-गुहामें एकांतकी । धनंजय ॥ ११ ॥

मुझमें हो अनन्यत्व भक्ति निष्काम निश्चल ।
एकांतमें रहे प्रीति अरुचि जन-संगमें ॥ १० ॥

शैल-कक्षाके गव्हर । जलाशय परिसर ।
किंतु न चाहे शहर । रहनेके लिये ॥ १२ ॥

एकांत पर उसकी प्रीति । जन-संगमें है अ-प्रवृति ।
जान तू मनुष्याकार-मूर्ति । ज्ञानकी वह ॥ १३ ॥

कहता ज्ञानके लक्षण । और भी मैं तुझे अर्जुन ।
तू है अत्यंत बुध्दिमान । सुनो इसे ॥ १४ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

७-१८ ज्ञानका लक्षण, अध्यात्म-ज्ञान, ज्ञेय-दर्शन--

अजी ! परमात्म ऐसे । वस्तु होती है जिससे ।
दर्शन होता है उसे । कहते हैं ज्ञान ॥ १५ ॥

इस एक ज्ञानके बिन । स्वर्ग-दायक आदि ज्ञान ।
मानना है वह अज्ञान । निश्चय-पूर्वक ॥ १६ ॥

स्वर्गकी बात वह छोडता । संसारसे नाता ही छोडता ।
अध्यात्म-ज्ञानमें डूब जाता । सद्‌भावनासे ॥ १७ ॥

पथिक जैसे चौराहे पर । दूसरे पथोंको तज कर ।
चलता अपने पथ पर । वैसे ही वह ॥ १८ ॥

कर ज्ञान मात्रका निरीक्षण । दूसरे सबका निराकरण ।
स्वीकार करता केवल आत्म-ज्ञान । अपने मन-बुध्दिसे ॥ १९ ॥

कहता है सही यह एक । अन्य सभी है भ्रांति-मूलक ।
ऐसी मति कर स्थिर देख । रहता मेरु-सा ॥ ६२० ॥

ऐसा निश्चय जिसका । आत्म-ज्ञान विषयका ।
ध्रुव जैसा गगनका । वैसा रहता ॥ २१ ॥

अध्यात्म-ज्ञानमें श्रध्दा तत्वतः ज्ञेय-दर्शन ।
कहा है इसको ज्ञान अज्ञान विपरीत जो ॥ ११ ॥

ऐसे ही मनुष्योंमें ज्ञान । रहता निःसंशय जान ।
ऐसा ही मन-ज्ञान-लीन । होता है मद्रूप ॥ २२ ॥

बैठनेके बाद होनेका जो हो जाता । वह सब बैठते ही नहीं होता ।
किंतु ज्ञानमें मन स्थिर हो जाता । बनता ज्ञानी वह ॥ २३ ॥

तथा तत्व-ज्ञान निर्मल । फलता जो एक ही फल ।
ज्ञेय पर ही जो सरल। जम जाती दृष्टि ॥ २४ ॥

वैसे बोध हुवा जो ज्ञान । हुवा नहीं ज्ञेय दर्शन ।
नहीं मिला उसको ज्ञान । ऐसे मानते हम ॥ २५ ॥

अंधेके हाथमें दीप देनेसे । क्या लाभ होगा उसको उससे ।
कुछ न दीखता जिस दीपसे । लाभ ही क्या भला ॥ २६ ॥

अजी ! प्रकाश जब ज्ञानका । न कराता दर्शन ज्ञेयका ।
उससे क्या लाभ है किसका । निरर्थक-बुध्दि ॥ २७ ॥

जिससे-ज्ञेय दर्शन । करता सर्वत्र मन।
वही शुध्द-बुध्दि ज्ञान । धनंजय ॥ २८ ॥

वही है निर्दोष ज्ञान। जिससे ज्ञेय दर्शन।
वही है ज्ञान-संपन्न । हुवा पार्थ ॥ २९ ॥

जितनी ज्ञानकी वृध्दि । उतनी है उसकी बुध्दि ।
उसको शब्दसे सिध्दि। करना व्यर्थ ॥ ३० ॥

ज्ञान प्रकाशके साथ । बुध्दि ज्ञेयसे सतत ।
चिपकती वही पार्थ । पाता परतत्व ॥ ३१ ॥

ज्ञानेश्वरकी सहज काव्य स्फूर्ति—

उसीको मैं यदि ज्ञान कहता । इसमें विस्मय क्या पांडुसुत ।
अजी ! सविताको कहो सविता। नहीं कहें क्या ॥ ३२ ॥

तब कहते हैं सब श्रोता । विस्तार न कर ज्ञानी-वार्ता ।
ग्रंथार्थमें यह बाधा लाता । क्यों भला व्यर्थकी ॥ ३३ ॥

हमें यह तेरा मधुर । वक्तृत्वका पाहुनाचार ।
ज्ञानका कराया साकार । शब्द-दर्शन ॥ ३४ ॥

रस होना है अति मात्र । लिया है तूने कवि मंत्र ।
बुलाके हमें यह तंत्र । करता क्यों शत्रुताका ॥ ३५ ॥

प्रेमसे भोजनमें बुलाया । सजाके पंगतमें बिठाया ।
और सभी पक्वान्न भगाया । इससे मिला क्या ॥ ३६ ॥

गाय है सुंदर पुष्ट बछडा साथ । काहेमें हाथ लगाते मारती लात ।
कौन पालेगा कहो उसे समर्थ । व्यर्थ ही घरमें ॥ ३७ ॥

वैसे ज्ञानमें मति नहीं प्रकाशती । जलपोंमें व्यर्थ स-कौतुक दौडती ।
वैसे तूने अन्य कवि-गणकी भांति । तिहीं किया निरूपण ॥ ३८ ॥

पानेके लिये जो कुछ ज्ञानांश । करता योग-यागादि सायास ।
उस ज्ञानका तूने किया स-उल्हास । योग्य-निरूपण ॥ ३९ ॥

अमृत मिला जैसे सतत । इससे ऊबेगा कोई तात ।
या सुखके दिनका गणित । करेगा क्या कोई ॥ ६४० ॥

या पूर्ण चंद्रकी रात । आयेगी युग-पर्यंत ।
कहेगा उसे क्या व्यर्थ । कभी चकोर ॥ ४१ ॥

वैसे हैं ज्ञानके बोल । वह भी ऐसे रसाल ।
कौन कहेगा अकुशल । हुवा बहु ॥ ४२ ॥

आता जब भाग्यशाली अतिथि । परोसती गृहिणी दैवयती ।
रसौयी चुक न जाये चाहती । मती-मनुष्यकी ॥ ४३ ॥

ऐसे ही आया अब प्रसंग । ज्ञानमें हमको अति-राग ।
तेरा भी उसीमें अनुराग । इससे यहां ॥ ४४ ॥

इसीलिये यह प्रवचन । खिला है भक्तिसे शत-गुण ।
तभी ज्ञानमें तू है संपूर्ण । कैसे न कहे हम ॥ ४५ ॥

अब यहां इसपर । ज्ञानकी पिछली ओर ।
पद है वह स्पष्ट कर । निरूपणसे ॥ ४६ ॥

सुनके संत-वचन ऐसे । कहे निवृत्ति-दास सबसे ।
मेरा भी मनोगत था ऐसे । निरूपणका ॥ ४७ ॥

अब तो यहां हैं आप । आज्ञा देते हैं सकृप ।
व्यर्थका शब्द मैं आप । न करूं यहां ॥ ४८ ॥

जैसे आपने सुना । पार्थसे कृष्णका कहना ।
ज्ञानके लक्षण संपूर्ण । अष्टादश ॥ ४९ ॥

फिर कहते हैं हरि अर्जुन । यह है ज्ञानका वसति-स्थान ।
यह मेरा मत है जो संपूर्ण । ज्ञानी भी यही कहते ॥ ६५० ॥

करतल पर है गोल । फिर रहा जैसे आमला ।
ज्ञान तुझको है निर्मल । दिखाया मैंने ॥ ५१ ॥

अज्ञानके लक्षण—

सुन तू महामति पार्थ । अज्ञान जो है कहलाता ।
वह मैं तुझसे कहता । स-लक्षण ॥ ५२ ॥

जब होता है ज्ञानका भान । जानना सहज है अज्ञान ।
अजी ! जो नहीं होता है ज्ञान । अज्ञान ही रहा ॥ ५३ ॥

दिवस होता है जब समाप्त । रहती है केवल-मात्र रात ।
तीसरा अन्य नहीं होता पार्थ । उसी भांतिसे ॥ ५४ ॥

जहां नहीं होता ज्ञान । वहां देख तू अज्ञान ।
तो भी कहता हूं सुन । लक्षण उसके ॥ ५५ ॥

१ अज्ञानका लक्षण, अभिमान—

मौका देखता स्व-प्रतिष्ठाका । प्रतीक्षा करता सन्मानका ।
होता जब सत्कार उसका । खिलता संतोषसे ॥ ५६ ॥

गर्व-पर्वतके शिखर । चढ़ते जाता महत्व पर ।
उसमें तू पांडुकुमार । अज्ञान जान ॥ ५७ ॥

२ अज्ञानका लक्षण, दंभ—

जैसे स्वधर्मका मंगल । बांधता बाचाका पीपल ।
तथा खडा किया देवल- । में मानो कूंचा ॥ ५८ ॥

करता अपने ज्ञानका पसारा । तथा पीटता सु-कृतका ढिंढोरा ।
करता सदा प्रतिष्ठा विचार । बढानेका ॥ ५९ ॥

करता है स्नान देहार्चन । प्राणियोंकी पूजासे वंचन ।
वह आज्ञानकी खान जान । सदैव, पार्थ ॥ ६६० ॥

३ अज्ञानका लक्षण, हिंसा—

होता जब वनमें अग्नि-संचार । जलते हैं तब जंगम-स्थावर ।
वैसे ही होते हैं उनके उपचार । जन दुःखके कारण ॥ ६१ ॥

सहज ही करता जो भाषण । होता है सबरीसे भी तीक्ष्ण ।
विषसे भी करता है मारण । अधिक संकल्प ॥ ६२ ॥

उसका अति अज्ञान । अज्ञानका है निधान ।
तथा हिंसाका सदन । जीवन उसका ॥ ६३ ॥

४ अज्ञानका लक्षण, अशांति—

धौंकनी जब है फूंकती । फूलती और सिकुड़ती ।
संयोग-वियोगमें होती । वैसी स्थिति उसकी ॥ ६४ ॥

जिस भांति बवंडरमें धूल । पहुंचती गगनमें सरल ।
फूलता वह स्तुतिसे बहुल । अपनी पार्थ ॥ ६५ ॥

अल्पांश भी निंदा सुनकर । पकडकर बैठता शिर ।
सुखाती हवा गलाता नीर । कीचडको जैसे ॥ ६६ ॥

मानापमानमें वैसे होता । कोई भी उर्मी नहीं सहता ।
जान लेना उसमें तू पार्थ । अज्ञान पूरा ॥ ६७ ॥

५ अज्ञानका लक्षण, कुटिलता—

उसके मनमें होता भिन्न । तथा वाचा बोलती है भिन्न ।
देता किसीको कुछ वचन । सहायता तीसरेको ॥ ६८ ॥

जैसे व्याधका चारा डालना । सरलताका स्वांग रचना ।
सज्जनोंका हृदय जीतना । ऐसे शत्रु-भावसे ॥ ६९ ॥

जैसे कायीसे लीपती शिला । अथवा पका निंबौला पीला ।
वैसे दीखता उसका भला । बाह्य-आचार ॥ ६७० ॥

उसमें भरा है अज्ञान । बसता है जान अर्जुन ।
इस बोलसे नहीं भिन्न । दूसरा सत्य ॥ ७१ ॥

६ अज्ञानका लक्षण, गुरुद्रोह—

गुरु-भक्तिमें मानता लांछन । गुरु-सेवामें माने अपमान ।
गुरुसे मिली है विद्या महान । मानता नहीं यह ॥ ७२ ॥

करना उसका नामोच्चरण । चांडालका अन्न खाना ही मान ।
कहनेमें अज्ञानका लक्षण । बोलना पड़ा मुझे ॥ ७३ ॥

अब गुरु-सेवकका नाम लेगा । जिससे वाचाका प्रायश्चित्त होगा ।
गुरु-भक्तके नामसे दूर होगा । जैसे तम सूर्यसे ॥ ७४ ॥

इससे ही सब पापका । दूर होगा दोष वाचाका ।
जो आया गुरु-निंदाका । नाम लेनेसे ॥ ७५ ॥

गुरु-भक्तका नामोच्चार । उस पातका भय हर ।
अब सुनो चित्त देकर । अन्य लक्षण ॥ ७६ ॥

७ अज्ञानका लक्षण, अशौच—

स्वयं होता है जो कर्म-विरत । मनमें सदा विकल्प भरित ।
रहता कांदे कीचड सहित । वनका कुवास ॥ ७७ ॥

ऊपर झाड झंकाड । अंदर भरे है हाड ।
अशुचिका भरा आड । अंदर बाहर ॥ ७८ ॥

जिस भांति बुभुक्षित कुत्ता । खुला या ढका नहीं जानता ।
अपना पराया न देखता । वैसे द्रव्यार्थ जो ॥ ७९ ॥

इन ग्राम-सिंहमें जैसे । मिलन निषेध ना वैसे ।
स्त्रियोंके विषयमें वैसे । विचार करते नहीं ॥ ६८० ॥

कर्मका समय वे चुकाते । नित्य-नैमित्तिक है टालते ।
इससे वे नहीं पचताते । मनमें कभी ॥ ८१ ॥

पापके वे सदा संग । पुण्यमें होते असंग ।
जिनके मनमे वेग । सदा विकल्पके ॥ ८२ ॥

जान तू वह संपूर्ण । अज्ञान है मूर्तिमान ।
मूंदता सदा नयन । वित्ताशासे ॥ ८३ ॥

८ अज्ञानका लक्षण, चांचल्य—

अल्प स्वार्थसे होता चंचल । स्थिरतासे होता है विचल ।
जैसे तृणांकुर जाता ढल । चींटीसे भी ॥ ८४ ॥

पैर भी पडनेसे जैसे । डबरे गंदलाते वैसे ।
भयके नाम सुननेसे । घबडाता जो ॥ ८५ ॥

मनोरथके प्रवाहमें । बहता जाता जो मनमें ।
कुल्हाडा जैसे प्रवाहमें । बहता जाता ॥ ८६ ॥

जैसे है वायुके साथ । धूम्र फैलता दिगंत ।
होती है दुखःकी बात । उसको वैसी ॥ ८७ ॥

जैसे होता बवंडर । होता नहीं कहीं स्थिर ।
तीर्थक्षेत्र और पुर । न करता स्थान ॥ ८८ ॥

जैसे है गिरगिट उन्मत्त । चढने उतरनेमें रत ।
रहता है सदा ही व्यर्थ । उसी प्रकार ॥ ८९ ॥

जैसे बिन पेंदीका जो घडा । बिन गाडे न रहता खडा ।
वैसे नींदमें रहता पडा । नहीं तो भटकता ॥ ६९० ॥

उसमें रहता बहुत । अज्ञान भांडार विस्तृत ।
चांचल्य में लघुभ्रात । मर्कटका जो ॥ ९१ ॥

९ अज्ञनाका लक्षण, स्वैराचार—

और सुन तू धनुर्धर । न छूता उसका अंतर ।
संयमका गंध संस्कार । नाम मात्रको ॥ ९२ ॥

अजी ! जब नालेमें आता पूर । उसे न रोकता बालूका घेरा ।
शास्त्र-निषेधका उसपर । होता नहीं प्रभाव ॥ ९३ ॥

करता व्रतोंका अवहेलन । वैसे ही स्वधर्मका उल्लंघन ।
यम-नियम मर्यादा खंडन । करता वह ॥ ९४ ॥

पापसे वह नहीं उकताता । नहीं उसको पुण्यमें भी आस्था ।
वैसे ही लोक-लाजकी खो देता । सीमा रेखा ॥ ९५ ॥

कुल-धर्म नहीं पहचानता । वेदोंकी आज्ञाको नहीं जानता ।
भला-बुराका ध्यान नहीं देता । कभी वह पार्थ ॥ ९६ ॥

सांडसा वह अनिर्बन्ध । आंधीसा होता अमर्याद ।
टूटा हुवा नदका बांध । निर्जनमें कहीं ॥ ९७ ॥

जैसे अंधा गज मदसे मत्त । या जलता हुवा वन पर्वत ।
वैसे विषयोंमें होता उन्मत्त । चित्त उसका ॥ ९८ ॥

घूरेपर कब कौन क्या न डालते । ग्राम द्वार देहरी कौन न लांघते ।
राहके सांडको कहो कौन बांधते । पांडुकुमार ॥ ९९ ॥

जैसे अन्न-छत्रमें सभी जाते । या सामान्य अधिकार जताते ।
या सारायीमें कोयी घुसते । वैसे ही सदा ॥ ७०० ॥

रहता जिसका अंतःकरण । उसमें होता संचार संपूर्ण ।
अज्ञानमें वहां है निशिदिन । रहती बुद्धि ॥ १ ॥

१० अज्ञानका लक्षण भोगलिप्सा—

विषयोंकी जो है उसकी आस । जीने मरनेमें न होती नास ।
स्वर्गमें भी उसीके आशापाश । ले चलता वह ॥ २ ॥

करता भोगका अखंड जतन । काम्य-क्रियाका है जिसका व्यसन ।
विरक्तका कर मुखावलोकन । करता शचैल ॥ ३ ॥

विषय है उनसे उकताने । ये न उकताने सावध होते ।
सडे हुये हाथोंसे जैसे खाते । महारोगी ॥ ४ ॥

जैसे गर्दभी नहीं आने देती । लातोंसे खरका नांक तोडती ।
फिर भी गर्दभ है सआसक्ति । न लौटना पीछे ॥ ५ ॥
वैसे ही जो विषयोंमें रत । कूदते स्थानमें ज्वाला-ग्रस्त ।
व्यसनमें होकर वे लिप्त । मानते यह भूषण ॥ ६ ॥

यदि मृग टूट भी गिरता । अपनी दौड बढाता जाता ।
किंतु असत्य नहीं मानता । मृगजलका भ्रम ॥ ७ ॥

वैसे जन्मसे मृत्यु पर्यंत । विषयोंमें हो सदैव त्रस्त ।
फिर भी अधिक हो आसक्त । करता मोह ॥ ८ ॥

पहले होती बालदशा । माता पिता इसीकी आशा ।
फिर स्त्री-शरीरका नशा । भुलाता सब ॥ ९ ॥

स्त्री-भोगमें तब काल हरण । होता है वार्धक्यका आगमन ।
तथा बनते अनुराग-स्थान । अपने बालक ॥ ७१० ॥

जन्मांध जैसे अपना घर । नहीं छोडता जीवन-भर ।
बच्चोंके विषय तिरस्कार । कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

उसमें जान धनुर्धर । अज्ञान रहता अपार ।
सुन अब अन्य प्रकार । अज्ञानके ॥ १२ ॥

११ अज्ञानका लक्षण, देहाभिमान—

यह देह ही है आत्मा । बनाकर मनोधर्म ।
करता रहता कर्म । दिनरात ॥ १३ ॥

कभी कोयी कर्माचरण । होता कम अधिक मान ।
तब वह स-अभिमान । फूलता सूखता ॥ १४ ॥

सिरपर देव-मूर्तिके बोझसे । अकडकर चलता पूजारी जैसे ।
विद्या धन वयादि अभिमानसे । अकड चलता वह ॥ १५ ॥

मैं ही हूं महा-धनवान । मेरे घरमें गुण-धन ।
मेरे घरका आचरण । मिलता कहां ? ॥ १६ ॥

कोयी नहीं है मेरे समान । मैं ही धन-गुण विद्यावान ।
ऐसे गर्व-तुष्टी मान लीन । हो फिरता वह ॥ १७ ॥

व्याधिग्रस्त मनुष्य जैसे । नहीं सहता भोग वैसे ।
अन्योंकी भलायी उससे । सही नहीं जाती ॥ १८ ॥

गुण सारा खाता ही जाता। स्नेह सब जला डालता ।
रखा वहां काला करता। जैसे दीप ॥ १९ ॥

जीवन स्पर्शता तो तडतडता । हवा लगनसे प्राण ही तजता ।
जहां लगता राख कर रखता । सर्वस्वका ही ॥ २० ॥

अल्पस्वल्प प्रकाश देता । वैसा ही वह उष्मा देता ।
ऐसे दीपक–भांति होता । वह सुविद्य ॥ २१ ॥

औषध मान दिया भी दूध । नव-ज्वरमें करता बाध ।
पीता है जब वह एकाध । बनता गरल ॥ २२ ॥

वैसे सद्गुणीका मत्सर । व्युत्पत्तिमें जो अहंकार ।
तप ज्ञानका है अपार । अकड उसको ॥ २३ ॥

बिठाया पंचमको राज्यपर । या निगला खांबको अजगर ।
तब जैसे फूलता स-शरीर । ऐसे वह मानसे ॥ २४ ॥

बेलन जैसे नहीं झुकता । पत्थर जैसे नहीं द्रवता ।
फुरसे जैसे न उतरता । मदारीके मंत्रसे ॥ २५ ॥

ऐसा जो मनुष्य है जान । उसमें बढता अज्ञान ।
यह है निश्चित अर्जुन । कहता हूँ मैं ॥ २६ ॥

१२ अज्ञानका लक्षण, अविचार—

वैसे ही वह पांडुकुमार । नहीं करता कोयी विचार ।
गृह-देह-जन्म-मृत्यू पर । अपने कभी ॥ २७ ॥

कृतघ्न पर किया उपकार । या चोरको कर दिया व्यापार ।
या निर्लज्जकी की स्तुति अपार । वे भूलते जैसे ॥ २८ ॥

उठल्लू कुत्तेको जैसे । पूंछ काट भगानेसे ।
फिर वहीं आता वैसे । गीली पूंछ ले ॥ २९ ॥

मेंढक सापके मुखके अंदर । जाता है अपना सर्वस लेकर ।
पकडे रखता मुखमें शिकार । अपनी न सोचता ॥ ७३० ॥

वैसे हैं स्रवते नव-द्वार । त्वचा-रोगसे गला शरीर ।
चितमें उसका जो विचार । नहीं करता ॥ ३१ ॥

माताके उदर गव्हरमें । पचके मलके गर्तमें ।
नव माह तक जठरमें । ऊबा था जो ॥ ३२ ॥

गर्भकी थी जो वह व्यथा । जन्मके बाद वही कथा ।
यह सब ही है सर्वथा । भूलके बैठा ॥ ३३ ॥

मल मूत्र लिप्त बालक । गोदमें देख स-कौतुक ।
न घिनता सोचके शोक । करता अपना ॥ ३४ ॥

कलका जन्म जो गया । आजका भी जन्म आया ।
सोच नहीं आया गया । इसका कभी ॥ ३५ ॥

वैसे ही सुन तू अर्जुन । तारुण्यका कर दर्शन ।
न सोचता उसका मन । मृत्युकी बात ॥ ३६ ॥

जीवनका अति विश्वास । मृत्यूके अस्तित्वका भास ।
सदैव उसका मानस । भूलता जाता ॥ ३७ ॥

होते हैं डबरेके मीन जैसे । यह नहीं सूखेगा मान ऐसे ।
उसीमें पडे रहते हैं वैसे । न जाते गहरेमें ॥ ३८ ॥

सुनकर किरातका गान । मृग करते व्याध-दर्शन ।
आमिष लोभसे जैसे मीन । निगलता कांटा ॥ ३९ ॥

जैसे देख ज्योतिका जगमग । जला लेता अपनेको पतंग ।
नहीं जानता है जलेगा अंग । मोहमें वैसे ॥ ७४० ॥

निद्रा-सुखमें जैसे गंवार । नहीं देखता जलता घर ।
नहीं जान अन्नमें जहर । खाता अन्न ॥ ४१ ॥

वैसे जीवनका रूप लेकर । आयी मृत्यू यह न जानकर ।
पडता विषय-सुख भंवर । ग्रस्त हो क्षणिक ॥ ४२ ॥

दिन-रात जो खपता । शरीरको है बढाता ।
सुख वैभव मानता । विषयका सत्य ॥ ४३ ॥

बेचारा यह न जानता । वेश्याकी सर्वस्व-दातृता ।
वही सही कारण होता । सर्व-नाशका ॥ ४४ ॥

मित्रता चोरके साथ । प्राण लेती है निश्चित ।
धोना चित्रको सतत । उसीमें नाश ॥ ४५ ॥

पांडु-रोगीकी देह फूलना । जैसे उसका नाम मिटना ।
वैसे किसीका है भूलना । आहार-निद्रा ॥ ४६ ॥

सन्मुख देखकर शूल । चलता जो पैरसे चपल ।
प्रति पगमें मृत्यु निश्चल । लाना पास ॥ ४७ ॥

जैसे देह बढती जाती । वैसे आयु घटती जाती ।
औ' विषय-भोगकी होती । समृद्धि नित्य ॥ ४८ ॥

तथा आती है अधिकाधिक । मृत्यु जीवनके नजदीक ।
जैसे मिटते जाता नमक । पानीसे सतत ॥ ४९ ॥

ऐसे जीवन गलता जाता । मरण नित समीप आता ।
इस बातको जो न देखता । प्रत्यक्ष रूपसे ॥ ७५० ॥

अथवा जान तू अर्जुन । मृत्यूसे लीपा यह तन ।
न होता उसका दर्शन । विषय-भ्रांतिसे ॥ ५१ ॥

अज्ञान देशका भूप । जान तू उसको आप ।
यह अपनेमें आप । निश्चित बात ॥ ५२ ॥

१३ अज्ञानका लक्षण, वृध्दावस्थासे अनजान

जीवनके संतोषसे जैसे । नहीं देखता है मृत्यू वैसे ।
तरुणायीके नशामें उसे । न दीखाता वार्धक्य ॥ ५३ ॥

गाडी कगारसे फिसली हुयी । शिला-शिखरसे जो टूटी हुयी ।
आगे न देखते गढा या खायी । वैसे वह वार्धक्य ॥ ५४ ॥

वनके नालेमें पानी चढा । या भैंसेसे जाके भैंसा भिडा ।
वैसे तारुण्यका नशा चढा । जिसको उसे ॥ ५५ ॥

पुष्टि बिगडती । कांति उतरती ।
मान भी कांपती । अस्थिरतासे ॥ ५६ ॥

बाल सब पकते । अंगांग भी कांपते ।
तो भी फंसे रहते । माया-जालमें ॥ ५७ ॥

सामनेका जब नहीं टकराता । तब तक अंधा कुछ न जानता ।
अथवा आंखोंके नशा पर होता । आलसी संतुष्ट ॥ ५८ ॥

भोगता वैसे ही आजका यौवन । तो आ पहुंचता वार्धक्य दारुण ।
नहीं देखता इसको जो अज्ञान । कहलाता पार्थ ॥ ५९ ॥

दुबला कुबडा देखकर । चिढाता है अकडकर ।
कल होगा अपना शरीर । ऐसा यह न जानता ॥ ७६० ॥

शरीरमें वार्धक्य दीखता । जो है मृत्यूका संदेश देता ।
किंतु वह भ्रममें रहता । अपने तारुण्यके ॥ ६१ ॥

वह है अज्ञानका आगर । और भी सुन लक्ष देकर ।
और भी लक्षण धनुर्धर । कहता हूं मैं ॥ ६२ ॥

१४ अज्ञानका लक्षण, रोगसे असावधान—

जैसे कभी व्याघ्र वनसे । चरके लौटा जो दैवसे ।
फिर जाता है ढिटायीसे । जैसे सांड ॥ ६३ ॥

अथवा घरसे सांपके । द्रव्य अचानक उठाके ।
लाता जो मानता सांपके । नहीं होते दांत ॥ ६४ ॥

वैसे ही कभी अकस्मात । होता है एक दो घटित ।
मानता है वह निश्चित । नहीं है रोग ॥ ६५ ॥

देखकर जो शत्रू सोया । मानता वैर मिट गया ।
उसने सर्वस्व ही खोया । अपना जैसे ॥ ६६ ॥

वैसे आहार निद्राका व्यवस्थित । चलते हैं व्यवहार नियमित ।
तब तक है व्याधिसे निश्चिंत । रहता जो ॥ ६७ ॥

तथा स्त्री-पुत्रके साथ । भोगता है संपदा पार्थ ।
रजसे होता है उन्मत्त । विषयोंमें जो ॥ ६८ ॥

इसके साथ वियोग भी होगा । वैसे ही कोयी संकट आयेगा ।
इस भांति वह नहीं देखेगा । विचारसे ॥ ६९ ॥

उसीको अज्ञानी जान । तथा वही अर्जुन ।
देता है यथेच्छ अन्न । इंद्रियोंको ॥ ७० ॥

तारुण्य मदमें न देखता । संपत्तिके साथ ही बहता ।
सेव्य असेव्य नहीं मानता । ऐसा कभी ॥ ७१ ॥

करना नहीं वही करता । असंभाव्य मनमें धरता ।
अ-सोचका चिंतन करता । जिसका मन ॥ ७२ ॥

नहीं घुसना वहीं घुसता । जो न चाहना वही मांगता ।
नहीं छूना उसीसे मिलता । जिसका मन अंग ॥ ७३ ॥

नहीं जाना वही है जाता । न देखना वह देखता ।
नहीं खाना वही खाता । संतोषसे जो ॥ ७४ ॥

न करना उसका संग । नहीं भोगना वही भोग ।
नहीं चलना वही मार्ग । चलता वह ॥ ७५ ॥

नहीं सुनना वही सुनता । नहीं बोलना वही बकता ।
इतने पर भी न देखता । इसमें दोष ॥ ७६ ॥

तन-मनको जो रुचता । कृत्य-अकृत्य न देखता ।
कर्तव्य मानके करता । असंगत सारा ॥ ७७ ॥

इससे पाप भी होगा । नरक-क्लेश भी होगा ।
यह कुछ न देखेगा । भविष्यका जो ॥ ७८ ॥

इसके संगतिसे अज्ञान । होता है इतना बलवान ।
ज्ञानसे जो उतरता जान । संघर्ष रत हो ॥ ७९ ॥

रहने दो अब यह अर्जुन । दिखाता हूं अज्ञान मूर्तिमान ।
इससे मानेगा तू वह पूर्ण । सही रुपसे ॥ ७८० ॥

१५ अज्ञानका लक्षण, सदा विषय-सेवन—

अनुराग जिसका संपूर्ण । उलझा हुवा घरमें जान ।
जिस भांति भ्रमर अर्जुन । नवगंध केसरमें ॥ ८१ ॥

देख जैसा शर्कराका ढेर । न उठे मक्षिका बैठकर ।
वैसे रमणीमें रमकर । न उठे चित्त ॥ ८२ ॥

जैसे पानीमें मेंढक । तथा श्लेष्ममें मशक ।
कीचड़में फंसा देख । चौपाये जैसे ॥ ८३ ॥

वैसे घरसे कभी निकलना । नहीं करता जीव मन प्राण ।
जैसे सांप बेंबीमें दे आसन । बैठा ही रहता ॥ ८४ ॥

जैसे प्रमदा बन कंठहार । पकड बैठती है प्रियकर ।
वैसे अपनी कुटियाका द्वार । पकड बैठता वह ॥ ८५ ॥

मधुर रसके उद्देश्यसे । खपता है मधुकर जैसे ।
गृह-संगोपनमें भी वैसे । रहता है वह ॥ ८६ ॥

जब बुढापेमें है होता । दैवसे पुत्र इकलौता ।
उससे जैसे प्रेम होता । माता-पिताका ॥ ८७ ॥

उसी प्रेमसे होती पार्था । घरमें उसकी जो आस्था ।
बिना स्त्रीके वह सर्वथा । न जाने कुछ ॥ ८८ ॥

जैसे स्त्री-देहमें वह जीव । भजता रहता सर्व-भाव ।
कौन मैं कर्तव्य क्या स्वभाव । भूलता है ॥ ८९ ॥

महा पुरुषका जो चित्त । बनके ऐसा वस्तुगत ।
भूलता व्यवहार-जात । उसी भांति ॥ ८९० ॥

हानि लाज नहीं देखता । परापवाद नहीं सुनता ।
सर्वेंद्रियोंसे जो रमता । स्त्रीमें एकाग्र हो ॥ ९१ ॥

चित्त करता है स्त्री-आराधन । तथा उसकी धुनमें नर्तन ।
जैसे मर्कट हो आज्ञाधीन । मदारीके जैसे ॥ ९२ ॥

जैसे अपनेको थकाता । जो है दूसरोंका दुखाता ।
कवडी कवडी गिनता । लोभी जैसा ॥ ९३ ॥

दान-पुण्यको धता बताता । इष्ट-मित्रोंको सदा फंसाता ।
स्त्रीकी बात है पूरी करता । नहीं करता न्यून ॥ ९४ ॥

दैवतोंसे समझौता । गुरुजनोंको छकाता ।
मां-बापको न कहता । सदैव ही ॥ ९५ ॥

किंतु वह स्त्रीके हेतु । लाता सभी भोग-वस्तु ।
भरता उससे वास्तु । जहां जो देखी ॥ ९६ ॥

प्रेमसे जैसे भजता भक्त । सदा अपना कुल-दैवत ।
वैसे हो वह एकाग्र-चित्त । पूजता स्त्रीको ॥ ९७ ॥

स्त्रीके लिये भला पूरा । ला देता है सदा सारा ।
औरोंको समी प्रकार । छकाता रहता ॥ ९८ ॥

उसको कोयी देखेगा । तथा कोयी बिगडेगा ।
जग ही डूब जायेगा । ऐसा मानता ॥ ९९ ॥

जैसे कभी खसरा होगा । नाग मनौती न तोडेगा ।
वैसे स्त्रीकी पूरी करेगा । सभी मांग ॥ ८०० ॥

स्त्री ही सर्वस्व है जिसका । अन्य कुछ न है उसका ।
आप्तोंसे स्नेह भी उसका । उसीके लिये ॥ १ ॥

जो है अन्य भी समस्त । उसीका संपत्ति-जात ।
जीवसे भी वह आप्त । मानता जो ॥ २ ॥

अज्ञानका है वही मूल । अज्ञानको उसीसे बल ।
रहता है वह केवल । अज्ञान-रूप ॥ ३ ॥

उफान-भरे सागर पर । नाव जैसे बिन-पतवार ।
हिलोरे लेती लहर पर । वैसे चित्त ॥ ४ ॥

जब वह प्रिय-वस्तु पाता । अति-सुखसे गगन छूता ।
तथा अप्रियसे पहुंचता । रसातलको ॥ ५ ॥

ऐसा जिसका चित्त । विषम होता पार्थ ।
होके भी बुध्दिवंत । अज्ञानी वह ॥ ६ ॥

फलमें रखके आसक्ति । करता वह मेरी भक्ति ।
जैसे करते हैं धनार्थी । विरक्तिका स्वांग ॥ ७ ॥

अथवा पतिके मनमें घुसकर । उसका विश्वास संपूर्ण पाकर ।
यत्न करती जाना जारके घर । स्वैरणी जैसे ॥ ८ ॥

जैसे मेरी उपासना । मनमें भोग-कामना ।
करता है वह अर्जुना । विषयार्थी हो ॥ ९ ॥

ऐसी भक्ति करने पर । फलको नहीं प्राप्त कर ।
छोड़ता है सब सत्वर । निरर्थक मान ॥ ८१० ॥

नित नयी भूमी किसान । बुवायी करता अर्जुन ।
ऐसे वह देवतार्चन । करता सदैव ॥ ११ ॥

देख किसी गुरुकी शान-मान । करता उसका मार्गानुगमन ।
तथा अन्योंको अति-क्षुद्र मान । उसका मंत्र लेता ॥ १२ ॥

प्राणि-जातसे जो निष्ठुर । पूजता है मूर्ति-स्थावर ।
ऐसी भक्ति तो अपार । निष्ठा कहीं नहीं ॥ १३ ॥

मेरी मूर्ति है बनवाता । घरके कोनमें रखता ।
आप यात्रामें है जाता । तीर्थ-क्षेत्रकी ॥ १४ ॥

प्रति-दिन मेरा आराधन । कार्यमें कुलदेवतार्चन ।
करता अन्य-देव पूजन । पर्व विशेषमें ॥ १५ ॥

घरमें है मेरा अधिष्ठान । अभिष्टार्थ अन्यका पूजन ।
पित्र-कार्यमें होता तर्पण । पितरोंका भी ॥ १६ ॥

जैसे एकादशीका पूजन । होता वैभवसे मेरा जान ।
वैसे नागपंचमीके दिन । नागोंका भी ॥ १७ ॥

गणेश-चतुर्थी देवता । गणेशका भक्त बनता ।
चतुर्दशी देख कहता । जै दुर्गे तेरा मैं ॥ १८ ॥

नवमीमें है मंडन। नव-चंडीका पूजन।
रविवारमें भोजन। भैरवका॥ १९॥

जब आता है सोमवार। दौड जाता शिव-मंदिर।
करे तुष्ट इस प्रकार। सबको वह॥ ८२०॥

करता अखंड भजन। क्षण भी न रहता मौन।
जैसी है ग्राम-सुहागन। रहती है वैसे॥ २१॥

ऐसा होता यह भगत। सभीके पूजामें है रत।
जान अज्ञान मूर्तिमंत। अवतरा है॥ २२॥

१६–१७ अज्ञानका लक्षण, एकांतमें अरुचि जनसंगमें प्रीति—

शुचि सु-चित एकांत सुंदर। तपोवन या तीर्थ देखकर।
मुरझाता मनमें तिरंतर। अज्ञानरूप जो॥ २३॥

जन-संगमें जिसको सुख। भाता है अतिशय लौकिक।
गडबडमें जो स-कौतुक। रहता सदैव॥ २४॥

जिससे आत्मा होती है गोचर। उस विद्याका नाम सुनकर।
भाग जाता है गडबडाकर। ऐसा विद्वान वह॥ २५॥

उपनिषद नहीं पढता। योग-शास्त्र उसे न रुचता।
अध्यात्म-ज्ञानमें न पैठता। चित्त उसका॥ २६॥

आत्म-चर्चाका नाम सुनकर। भागता जैसा रस्सी तोडकर।
चौपाया वैसे वह चौंककर। लांघ श्रद्धा-सीमा॥ २७॥

कर्म-कांड वह सब जानता। पुराण सब मुखोद्गत गाता।
ज्योतिष्यमें जो प्रवीण बनता। पारंगत जैसे॥ २८॥

शिल्पमें अति निपुण। पाक-कर्ममें प्रवीण।
जानता है अथर्वण। विधि समस्त॥ २९॥

काम-शास्त्रमें मति सिद्ध। भारत पाठ तो प्रसिद्ध।
आगम-शास्त्रमें विशुद्ध। किया अपनासा॥ ८३०॥

जानता है सभी नीति । वैद्यकमें खासी गति।
काव्यमें है पक्व-मति । तथा न्यायमें भी ॥ ३१ ॥

होता स्मृतियोंका तज्ञ । गारुडी विद्याका मर्मज्ञ।
शब्दकोशका महा-प्राज्ञ । माना कोश है दास ॥ ३२ ॥

व्याकरण-ज्ञानमें अगाध । तर्क-शास्त्रका है पूर्ण बोध।
किंतु आत्म-ज्ञानमें जन्मांध । होता है धनंजय ॥ ३३ ॥

इस एकके बिन जो सभी शास्त्र । जानता वह मूल सिद्धांत-सूत्र।
जलने दो लगा है मूला नक्षत्र । न देखो वह ॥ ३४ ॥

मोर-पंखके शरीर पर । उसपे होती आंख सुंदर।
दृष्टि नहीं होती एक पर । वैसा है यह ॥ ३५ ॥

अध्यात्म–ज्ञानके बिन सब व्यर्थ—

यदि परमाणु जितना । संजीवनी जड पा जाना।
अन्य औषध क्या करना । ढेरोंका जो ॥ ३६ ॥

आयुष्य बिन सब लक्षण । अथवा शरीर बिन आभूषण।
बरात जैसे वैभव-पूर्ण । दूल्हा बिन निंदित ॥ ३७ ॥

सब शास्त्र वैसे ज्ञान । सर्वथा है अप्रमाण।
अध्यात्म ज्ञान बिन । स्वयंपूर्ण जो ॥ ३८ ॥

इसीलिये जान तू अर्जुन । जो है अध्यात्म-बोध विहीन।
उसको कहते प्राज्ञ जान । शास्त्र-मूढ ॥ ३९ ॥

मानो उसका जो शरीर । अज्ञान-बीजका अंकुर।
उसका हुवा जो विस्तार । अज्ञान-वृक्ष ॥ ८४० ॥

होते हैं उसके सभी बोल । आज्ञानके खिले हुये फूल।
फले तो उसके पुण्य-फल । अज्ञानके ही ॥ ४१ ॥

अध्यात्ममें जिसे रस नहीं । उसको ज्ञेय दीखता नहीं।
यह कहना अवश्य नहीं । जान तू यह ॥ ४२ ॥

इस तीरको भी जो न पाता । तीर देखके भी भाग जाता ।
पैल तीरकी वह क्या वार्ता । जानेगा भला ॥ ४३ ॥

या देहरी पर ही उसका सिर । दबाया कंगूरमें जकडकर ।
देखेगा कैसा वह पांडुकुमार । अंतर्गृहकी बात ॥ ४४ ॥

आत्म-ज्ञानकी पहचान । नहीं है उसको अर्जुन ।
जानेगा कैसा सत्य-ज्ञान । विषय भी वह ॥ ४५ ॥

तभी इसमें विशेष । तत्व नहीं है देख ।
कहना तुझे शेष । रहा ही क्या ॥ ४६ ॥

जैसे स-गर्भाको पोसा अन्न । उससे बढता गर्भका तन ।
पिछले पदमें किया वर्णन । वही है सब ॥ ४७ ॥

अंधेको दिया जब निमंत्रण । उसके संग आता स-नयन ।
जाने है अज्ञान लक्षण । ज्ञान भी आया ॥ ४८ ॥

ज्ञेयकी पूर्व-पीठिका—

तभी तो यहां अर्जुन । कहे अज्ञान लक्षण ।
अमानित्वादिके जान । हैं विरुद्ध जो ॥ ४९ ॥

ज्ञानके जो अठराह लक्षण । उसके उलटकर दर्शन ।
करनेसे दीखेगा अज्ञान । सहज भावसे ॥ ८५० ॥

पीछे श्लोकार्धमें एक । कहा है श्रीकृष्णने देख ।
उलटके ज्ञानको देख । वही है अज्ञान ॥ ५१ ॥

तभी इस पद्धतिको स्वीकार । किया है उस अर्थका विस्तार ।
न तो दूधमें मिलाकर नीर । न फैलाता ऐसे ॥ ५२ ॥

वैसे दिखायी नहीं वाचालता । शब्दकी सीमामें हूं मैं स्पष्टता ।
बना मूल-ध्वनिके विस्तारार्थ । निमित्तमात्र ॥ ५३ ॥

तब कहते हैं श्रोता जन । अनावश्यक स्व-समर्थन ।
विस्तार भीति है अकारण । कवि पोषक अपनी ॥ ५४ ॥